हिन्दी-निबन्ध

और

निबन्धकार

●

ठाकुरप्रसाद सिंह एम० ए०
आचार्य, हिन्दी विद्यापीठ
देवघर (बिहार)

●

हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी
ज्ञानवापी, बनारस ।

प्रकाशक—

हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी

ज्ञानवापी, बनारस

शाखा—कलकत्ता, पटना

प्रथम संस्करण

~~सन् १९४२~~

मूल्य दो रुपया।

मुद्रक—

परेशनाथ घोष

सरला प्रेस, बनारस।

भूमिका

श्री ठाकुरप्रसादसिंहजी ने हिंदी निबन्धों और निबन्धकारों के सम्बन्ध में यह सुन्दर पुस्तक लिखी है। निबंध को उन्होंने 'काफी दूर तक व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध का पर्याय' मानकर अपने विवेच्य विषय को काफी सीमित कर लिया है। सहृदयमात्र अनुभव करेंगे कि ऐसा करके उन्होंने केवल बुद्धिमानी का ही परिचय नहीं दिया है, साहित्यालोचन के कर्तव्य का उचित पालन भी किया है। जनतंत्र का ज़माना है, छापे की मशीनों की भरमार है। कह सकने की योग्यता रखने वाले हर भलेमानस को किसी-न-किसी विषय पर कुछ-न-कुछ कहना है, हर छापे की मशीन को अपना पेट भरने के लिये कुछ-न-कुछ छापना है। सौ राज्य भर के विषयों पर निबंध लिखे जा रहे हैं। कहाँ तक कोई सबका लेखा-जोखा मिलाए। सभी विचार किसी-न-किसी निबंधशैली में लिखे जाते हैं। जब कार्लायल ने कहा था कि निबंधों को देख कर किसी साहित्य की गहराई का अनुमान किया जा सकता है तो निश्चय ही उसने हर गद्यबद्ध रचना को निबंध नहीं माना था। उस महान् विचारक के मत से ऐसी गद्य रचनाएँ थीं जिनमें केवल प्रलाप नहीं होता, केवल उथले विचारों का संकलन नहीं होता बल्कि जिनमें गंभीरतापूर्वक कार्य कारण की शृंखला का ध्यान रखते हुए विचार निबद्ध किए जाते हैं और उन निबद्ध विचारों की रीढ़ लेखक का अपना व्यक्तित्व होता है। ये दो ही बातें निबंध की जान हैं। उनमें या तो विशुद्ध ऊहापोह मूलक चिन्तन हो और या फिर लेखक का अपना व्यक्तित्व प्रधान हो उठा हो। निबंध में कभी एक बात प्रधान हो उठती है कभी दूसरी, पर किसी-न-किसी रूप में ये दोनों रहती अवश्य हैं। जिस साहित्य में ऐसे निबंध नहीं होते उसको

बहुत समृद्ध साहित्य नहीं कहा जा सकता। भाई ठाकुरसिंहजी ने दूसरी श्रेणी के निबंधों को अपनी विवेचना का लक्ष्य बनाया है। उन्होंने इस ओर हिंदी साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट करके बहुत अच्छा किया है। साधारणतः हमारे आलोचक पद्यबद्ध रचनाओं के विचार में ही उलझे रह जाते हैं, साहित्य के और शक्तिशाली अंग उपेक्षित ही रह जाते हैं। इस पुस्तक ने हिंदी साहित्य के एक ऐसे ही अंग की ओर सहृदयों का ध्यान आकृष्ट किया है।

पुस्तक में आरंभ निबंधों का सुंदर विवेचन है और फिर हिंदी के निबंध लेखकों पर संक्षेप में विचार है। यह जान कर प्रसन्नता होती है कि इस क्षेत्र में भी हिंदी में प्रचुर साहित्य लिखा जा रहा है। ठाकुर-प्रसादजी ने पूरा पूरा मार्क तो किसी को नहीं दिया है—किसी अध्यापक से यह आशा की भी नहीं जा सकती!—फिर भी उनकी विवेचना को पढ़नेवाला साहित्य के इस अंग के सम्बंध में निराश नहीं होगा। उसे कुछ अच्छे निबंधकारों को देखकर प्रसन्नता ही होगी।

यद्यपि पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि इसमें कई महत्त्वपूर्ण नये-पुराने लेखकों की चर्चा नहीं हो पाई है। शायद पुस्तक का छोटा आकार ही इसका कारण हो। मुझे आशा है कि अगले संस्करण में लेखक की पैनी दृष्टि अन्य महत्वपूर्ण निबंध लेखकों की ओर भी झुकेगी। तब तक 'यथा लाभ सन्तोष' करने के सिवा कोई चारा नहीं है। मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि विद्वान् लेखक इस विषय पर अपना कार्य जारी रखेंगे और भविष्य में इस विषय पर कोई बड़ी रचना प्रस्तुत करेंगे। तथास्तु।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

दो शब्द

हम आपके लिए अपरिचित नहीं हैं। दो पीढ़ी से हम आपकी—हिन्दी—की सेवा कर रहे हैं। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि हिन्दी साहित्य की सर्वतोमुखी विकास-धारा भी इन्हीं दो पीढ़ियों की देन है। हमने जिस दिन प्रेमचन्द का 'सेवा-सदन' प्रकाशित किया उस दिन हिन्दी का नया युग उनकी कलम में जन्म ले रहा था, और जब हमने बाद में उनका 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित किया तब इस देश की मुक्ति का महायज्ञ पूरी योजना से अपने चरम पर पहुँच गया था।

तब से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में हम हिन्दी और राष्ट्रीयता की मांग की पूर्ति करते रहे हैं। इसके प्रमाण हमारे प्रकाशन हैं जिन्हें हिन्दी भाषा-भाषी जनता उत्साह से स्वीकार करती आ रही है।

आज उसी परम्परा में हम 'हिन्दी निबंधों' पर यह पुस्तक प्रस्तुत कर रहे हैं। सम्भवतः इस तरह का यह प्रथम आधिकारिक प्रयत्न है और इस शैली के स्पष्टीकरण में यह ऐतिहासिक योग देगा। अब निर्णय आपके हाथों में रहता है।

—प्रकाशक।

अपनी ओर से

पुस्तक के नाम की विशालता से पुस्तक की लघुता की तुलना नहीं हो सकती। ऐसा करने से पुस्तक के प्रति कुछ हो न हो, विषय के प्रति आप अन्याय कर बैठेंगे। यदि तुलना करनी आवश्यक ही हो जाय, उसके बिना काम न चले तो मेरी क्षुद्रता पुस्तक की लघुता के साथ खड़ी हो लेगी, आपका तोष हो जायगा।

एक बात और आप देखेंगे। मैंने निबन्ध को काफी दूर तक व्यक्तित्व-प्रधान निबन्ध (Personal Essays) का पर्याय माना है। यह प्रश्न आपके लिए विवादास्पद हो सकता है, पर जिनके यहाँ से यह कला हमें मिली है, उनके यहाँ ऐसी कोई शंका चित्त चंचल नहीं कर पाती। आप भी स्थिर चित्त होकर विचार करें। जैसे कविता, कहानी, नाटक आदि अभिव्यंजना के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, वैसे ही निबन्ध भी एक विशिष्ट अभिव्यंजना की शैली है, पिछली शैलियों से कहीं अधिक शक्तिपूर्ण, साथ ही भाव संवहन में विशेष समर्थ। पिछली शताब्दियों में साहित्य में साहित्यकार की दूरी की अधिकता ने ही सम्पूर्ण दोषों का सृजन किया, आज रंगमंच सिनेमा, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो और सब के अन्त में टेलिविजन के आविष्कार ने कल के लेखक को उसकी अज्ञात छाया-गुफा से खींचकर चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। इससे साहित्य की अभि-

व्यंजना की ध्वनि भी बदलेगी। धीरे-धीरे कलम और जीभ की दूरी मिटेगी, आत्माभिव्यंजन और केवल अभिव्यंजन में भेद स्पष्ट दीख पड़ेगा। साहित्यकार को इस युग में चुप भी नहीं रहना होगा, छायालोक का आवरण तो छूट ही चुका है। ऐसे समय में निबन्ध के जिन भिन्न प्रकारों का विकास होगा वे प्राचीन परिभाषाओं के आश्चर्य के विषय होंगे। नये आविष्कारों, विशेष कर रेडियो ने जिस प्रकार गोष्ठी-साहित्य की एकान्तिकता को सार्वदेशिकता में बदल दिया है, वैसे ही निबन्धों की बद्ध परिभाषा को भी व्यर्थ सिद्ध कर दिया है। 'अज्ञेय' के शब्दों में श्रोता के कान पकड़ने की कला का अभ्यास रेडियो कलाकार कर रहे हैं, निबंध बाध्य होकर मनोरंजक और ललित होते जा रहे हैं। मराठी में तो इन निबन्धों को 'ललित निबन्ध' कहा ही जाता है।

यहाँ मैं स्पष्ट कह दूँ कि जिस प्रकार कहानी, उपन्यास या कविता में उपदेश, धर्म-प्रचार, दवाओं का विज्ञापन आदि वर्जित हैं, वैसे ही निबन्धों के कलेवर में भी ये नहीं पचने चाहिए, अभिव्यंजना की शैलियों का गुण-धर्म केवल स्वरूप परिवर्तन से तो बदलेगा नहीं! फिर सिद्धांत चर्चा धर्म प्रचार, समाचार संग्रह, विज्ञापन, आलोचना, समालोचना, भाषा-विचार आदि सैकड़ों जो विषय हैं, उन्हें प्रतिपादित करने वाली कुछ पंक्तियों या पन्नों की वस्तु को आप निबन्ध क्यों कहते हैं, सहूलियत के लिए कोई दूसरा नाम दे डालिए। इसी हठवादिता से साहित्य की अभिव्यंजना का एक श्रेष्ठ प्रकार व्यर्थ सा होता दीख पड़ रहा है।

एक आलोचक की हैसियत से, मेरा उद्देश्य केवल आपको रोकड़-बही पर सही कर देना भर ही नहीं है। मात्र एक भ्रमपूर्ण स्थापना के लिए साहित्य की एक इतनी अच्छी शैली का बलिदान न हो, इसका भी ध्यान हमें रखना है।

अपनी ओर से

विवेचना की पद्धति मैंने वही रखी है जिससे शैली का विवेचन हो सके। केवल शैली और शैलीकार की बात करके ही मैं चुप नहीं रह गया हूँ। इसीलिए प्रवृत्तियों को महत्व देने के कारण आलोचना अधिक और उदाहरण कम हो गये थे। बाद में आलोचक-श्रेष्ठ श्री शान्तिप्रिय जी द्विवेदी की सलाह पर कुछ उदाहरण मैंने बढ़ाये। केवल उदाहरण के लिए उदाहरण फिर भी नहीं दे पाया हूँ, यों रचनाओं के सुन्दर स्थल रास्ते भर रोकते आ रहे हैं।

रही बात मेरी अपनी आलोचना शैली की। जिस परम्परा का परिचय देने के लिए उपस्थित हुआ हूँ वह आधे कवि और आधे गद्यकार की हृदय पक्ष प्रधान परम्परा है, इसलिए उसके परिचय की भाषा भी सहानुभूति और स्वानुभूति पूर्ण होनी चाहिये। यदि कहीं मैं कवि-सा लग रहा होऊँगा तो उनके ही लिए।

रूप तो स्थिर हुआ पर नाम की समस्या वैसी-की-वैसी ही है। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठों पर तीन पत्र भी मैं दे रहा हूँ, उससे मेरी परीशानी का अन्दाजा आप लगा सकेंगे। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे व्यक्ति-प्रधान कहा, कुछ इस शैली के लेखकों ने व्यक्तित्व-प्रधान कहा, कुछ ने विषयी (विषय नहीं) प्रधान की सम्मति दी। मराठी के लेखकों ने इसे लघु प्रबंध या निबन्ध कहा, वहीं के प्रसिद्ध लेखक ना० सी० फड़के ने ललित निबन्ध (नवें लेख-संग्रह) का स्वर मुखर किया। गुजराती के प्रसिद्ध लेखक श्री प्रेम शंकर भट्ट ने कहा कि अपने यहाँ तो कोई खास नाम है नहीं, यों गान्धी जी गुजराती के ही रत्न हैं और काका कालेलकर आदि उसी में लिखते हैं। हिन्दी के लेखकों में श्री गुलाब राय जी ने इसे वैयक्तिक निबन्ध कहा और श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने रेखाचित्र मानने की सलाह दी। मैंने इसे व्यक्तित्व-प्रधान ही कहकर छुट्टी की और

एक आलोचक-विद्यार्थी की हैसियत से छुट्टी पा ली। प्रारम्भ में यह विष्णु-सहस्र नाम इसी से गिना दिया कि "जाकी रही भावना जैसी" के अनुसार जिसे जिसमें सुभीता हो उस रूप में देखे, प्रभु तो प्रभु ही रहेंगे।

(२)

आलोचना के परिचय के साथ मेरा भी परिचय होता चले, मिश्री में बांस के टुकड़े-सा। दस वर्ष पहले इन्टर कालेज की कक्षाओं में पढ़ाने के लिए श्री अशोक जी (आजकल 'स्वतंत्र भारत' के प्रधान सम्पादक) काशी के हरिश्चन्द्र कालेज में आये थे। उन्होंने न जाने कैसे मेरे चेहरे पर लिखा पढ़ लिया कि मैं 'पर्सनल एसे' अच्छा लिख सकता हूँ। उन्होंने लिखवाया और आग्रह से छपवाया भी, लोगों ने प्रशंसा भी की, फिर यह बात पुरानी पड़ गयी। मैं धीरे-धीरे एम० ए० में पहुँचा और घर की परीशानियों और साथियों के घेरे से आँख उठाकर जब परीक्षा का ध्यान लगाकर बैठा तो उसके केवल तीस पैंतीस दिन बचे थे। पूज्य श्री केशव जी के यहाँ घबड़ाया-सा थीसिस का विषय मांगने गया, उन्होंने मुस्कराकर मेरी ओर देखा मानो मेरे विद्यार्थी होने में ही उन्हें शंका थी (परीक्षाफल में उनकी इसी शंका ने मुझे जीवन भर शंका करने के लिए छोड़ दिया कि क्या मैं हिन्दी जानता हूँ या केवल भ्रम ही है) किसी तरह जो प्रसन्न भी हुए तो चेहरे की ओर देखकर धीरे से बोले— "अच्छा तो आप 'पर्सनल एसे' पर ही क्यों न लिखें!" मैं एकदम चौंक गया, कई वर्ष पहले भी मेरे चेहरे ने यही भेद कहा था, आज उसने फिर वही, क्यों कह दिया? आज भी मैं इस आश्चर्यजनक एकता से परीशान हूँ। पर एक बात कहने का अधिकार तो मुझे मिल ही गया कि इस विषय पर लिखने का अधिकारी मैं हूँ। चेहरे पर लिखा ही है, भीतर भाग्य की लकीरों में इसकी जमाखर्च न भी हो तो कोई बात नहीं!

उस दिन हिन्दी में इस विषय पर एक भी पुस्तक नहीं थी न आज ही है। दो एक किताबें निबन्ध पर जो दीखीं उनमें किसी भी पथ-रेखा का स्पष्ट अभाव देखकर बड़ी निराशा हुई। इसलिए मेरा प्रयत्न नया ही लगेगा। अव्यवस्थाओं और विरोधाभासों के रहते हुए भी इसमें जो कहने का प्रयत्न किया गया है, उसको सच मानने में विश्वास गवाही न भी दे तो भी ईमानदारी पर विश्वास कीजिएगा।

पुस्तक की रचना में श्री प्रभाकर माचवे का सहयोग बराबर रहा है, उन्हें धन्यवाद है। छापे की तथा इधर-उधर की काफी गलतियाँ पुस्तक में हैं उसके लिए अपने सिवा किसे धन्यवाद दूँ। कुछ गलतियाँ मैंने शुद्धिपत्र में ठीक की हैं, पर बहुत सी यथा स्थान आपका रास्ता रोकेंगी। इसे मेरी लाचारी समझ कर आप क्षमा कर देंगे ही। सबसे बड़ी गल्ती यह थी कि मैं देवघर था, पुस्तक काशी के एक प्रेस में थी। इसे ठीक करना सम्भव नहीं था इसलिए दोषी मैं ही हूँ।

'विलासी'
देवघर
६ अगस्त १९५०

ठाकुरप्रसाद सिंह

क्रम

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१	स्वयं	व्यक्ति
४	६	यही	वही
५	७	वूँ	लूँ
७	८	निरंकुता	निरंकुशता
७	२४	काव्यार्थं	काव्यर्थः
१०	४	पम्परामुक्त	परंपरामुक्त
२८	५	कि के स्थान	पर पूर्ण विराम
२९	९		और तथा अपने के बीच में "उससे"
२९	२१	निपरुण	निरूपण
३३	१५	हम	वे
४५	१२		रहें और यहाँ के बीच में पूर्ण विराम
५२	६	भंग	यंग
५५	१		४ हट जायगा
६०	१४		रहा और जो के बीच में पूर्ण विराम
६२	३	हेजलिस	हेजलिट
६४	२१	मिसिंग	गिसिंग
७६	२३	केश	वेश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७७	४	गोस्वामो को	गोस्वामी की
७७	१२	बचने	रचने
८४	१८		हैं के बाद पूर्ण विराम
८५	२२		थे के पश्चात् इसलिये दोनों ओर हटें
८७	५		
८७	२३	खेल	खेत
९२	१४		पन्द्रहवीं पंक्ति मिला कर बीच का पूर्ण विराम हटावे
९३	५	ख्वास	ख्वाब
९३	११	गौंधा	गधा
९४	१४		लिखे के बाद पूर्ण विराम
९९	६	हम	इस
१०१	६		रेखाका के बाद आग्रह
१०९	११	it	if
१०९	१२	पाली	वाली
११२	१८		चाहिये के बाद पूर्ण विराम
११७	६	कमल	कलम
१३४	५	भानुकता	भावुकता
१४०	१४	अपवादित	अपवारित
१४१	१७		आगे के बाद न रखिए
१४३	१०	असफलाये	असफलतायें

हिन्दी-निबन्ध और निबन्धकार

भारतीय साहित्य में साहित्यकार का व्यक्तित्व

१

साहित्य कलाकार का अपना ही जीवन-दर्शन होता है इसीलिए जो कुछ भी साहित्य है वह साथ ही साथ स्वयं कलाकार का प्रतीक भी है। साधारण अस्थि-चर्म की काया पाकर एक साहित्यकार जहाँ जीवन के एक-एक वर्ष खोता है वहीं अपने यशः शरीर का एक-एक अंग मूर्त और विकसित करता जाता है। इसलिए एक दिन साधारण देह के समाप्त हो जाने पर भी वह उस यशः शरीर में जीवित रहता है। यह उसकी आयु शताब्दियों के मापदंड से नापी जाती है और इसमें जरा और मरण का भी भय नहीं रहता। हमारी भारतीय परम्परा के साहित्यकार का यही आदर्श था और इसी विशाल आदर्श की परम्परा हमारे साहित्यकारों ने—जो स्वयं ऋषि भी होते थे—भी पा ली थी, या यों कहिये कि यह उन्हीं का निर्मित विधान था।

इस आदर्श का एक दूसरा पक्ष भी था। व्यक्ति की समय, स्थान और दिशाओं की भुजाओं में सीमित कर दी गयी सीमितता के स्थान पर कर्त्तव्य की विशालता, अमरता और अबाधता की स्थापना करनेका मतलब

यह हुआ कि नाम रूप शरीर को काफी दूर तक उपेक्षित रखा गया। व्यक्ति स्वयं पर्दे के पीछे रहा। कृति सामने प्रकृति की ही भाँति सर्वभोग्या रही। रसज्ञताके सिवा यहाँ और किसी भी नियम की बाध्यता पाठक को नहीं थी। उसका परिणाम यह हुआ कि विशाल कृतियाँ एक ओर जहाँ कलाकार के कर्तृत्व के विषय में अवाक् और विशालता के विषय में चकित और विस्फारित नयन कर देती हैं वहीं स्वयं उसके बारे में एक भी शब्द नहीं कहतीं। हमें अपने वाल्मीकि और व्यास पर श्रद्धा तो है किन्तु हम उनके रूप, आकार, हर्ष, शोक, चिन्ता विमर्ष किसी के बारे में भी कुछ जानने से वंचित रह जाते हैं।

किन्तु यह वस्तु यदि यहीं समाप्त हो जाती तो सम्भवतः विमर्श भी एक सीमा तक ही रहता। किन्तु बात और भी गम्भीर है। एक ओर जहाँ कृतियाँ पूरे भारतीय साहित्य की निरन्तर ऊँची होती हुई अट्टालिका में ईंटों की तरह जुटती जा रही थीं वहीं उनका निर्माता और भी दूर होता जा रहा था। व्यक्ति ने अपने को केवल नाम शेष ही नहीं रखा, उसने अपना यश भी परिवार को दे दिया। विश्वामित्र, भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, वाल्मीकि के नाम व्यक्ति के नहीं, पीढ़ियों के सम्मिलित नाम हैं। यहाँ तक आकर कलाकारों की खोज करना एक दम व्यर्थ हो जाता है। यह बात यहीं तक नहीं रही। रचना किसी ने की और स्वयं को पीछे रखकर किसी वाल्मीकि, किसी व्यास, किसी मनु के नाम पर उसे समर्पित कर दिया। आज वाल्मीकि रामायण में भी शंका है, श्रीमद्भागवत में भी।

एक ओर जहाँ यों हीं इनका व्यक्तित्व खोजना दुरूह कार्य हो रहा था, वहाँ जनता की इनको और इनके जीवन को जानने की और उसे महत्वपूर्ण बनाने की भूख ने तो उनके चारों ओर किंवदन्तियों की ऐसी धुन्ध उठा दी है कि रास्ता एक दम खतरे से भर जाता है। कहीं कालि-

दास और भास का निर्णय सरस्वती करती है 'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो प्रकाशः' कहकर, कहीं भोज के दरबार में कालिदास, भवभूति से लेकर माघ तक बैठे दीखते हैं। कहीं तुलसी में वाल्मीकि की आत्मा है, कहीं सूर में ऊधव गाते हैं। इन्हीं किंवदन्तियों के डर से कहीं-कहीं आ गये व्यक्ति के चित्रणों पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। महाभारत में व्यास का भुजा उठाकर रोकना पर लाचारी से 'नहि कश्चित् शृणोति मे' कहकर चुप रह जाना स्वयं रचनाकार व्यास का कथन कैसे मान लिया जाय जब कि स्वयं वे उसी महाकाव्य में एक तटस्थ 'मानदंड' से घूमते पात्र बनकर वर्तमान हैं। वेदों और पुराणों में आयी कथाओं को कथा कर के लेने पर स्वयं उनके निर्माता उतनी ही दूर पकड़ के बाहर बने रहते हैं। तुलसीकृत रामायण में एक स्थल पर, अपनी जन्मभूमि के पास ही, जिस एक तापसी के आने को ही तुलसी का निज का उपस्थित करना जान कर एक दूरी तक हम प्रसन्न होते थे, उसे भी क्षेपक कहा गया है। सूरदास में भी ऐसे ही दो एक स्थल ढूँढ़े गये हैं।

किन्तु यह इस प्रकार की खोजों का बहुत ही प्रारम्भिक तरीका है। व्यक्ति-प्रधान साहित्य में ऐसी किसी बात का होना आवश्यक तो क्या कला की सीमाओं के बाहर की बात होगी। यहाँ उससे मेरा इतना ही तात्पर्य था कि उस आदर्शवादी परम्परा का दिग्दर्शन हो जाय जिसमें व्यक्ति को अन्त तक दूर रखा जाता था। वर्णन के विषय भी निश्चित थे, प्रबन्ध की सीमाएँ निर्धारित थीं, चरित्र निर्धारित थे, युग की समस्याएँ सामने रखकर उन्हीं की छाया में चरित्रों को सामने रखकर और कुछ युग सत्यों पर, स्वयं नहीं, उन्हीं के मुँह से विचार प्रकट करवा कर ये दूर हो जाते थे। न तो राम-कथा में न तो कृष्ण-कथा और न तो पूरे

साहित्य में स्वयं कलाकार के दर्शन होते हैं। यों उनके हृदय की धड़कन हमें सुन हर स्थल पर पड़ती है।

२

देश में एक ओर जहाँ ऐसी परम्परा थी वहाँ दूसरी ओर मनुष्य को देवता के मुकाबले प्रभुता देने की तो नहीं पर उसकी स्थापना के भगीरथ प्रयत्न हो रहे थे। कर्मकाण्ड एक ओर जहाँ पिछले आदर्श का सबसे अनुशासित रूप था यही सामान्य एकान्तिक भक्ति की स्थापना, उपनिषदों के आत्मवाद का विकास और अन्त में बौद्ध दर्शन का स्वरूप सब चिन्तन के ढंग को धीरे-धीरे जागतिक बनाते जा रहे थे।

एक ओर व्यवस्था थी और दूसरी ओर विरोधी धारा की ओर से कहा जा रहा था - "चूंकि ईश्वर कथित है इसलिए मानो, उसे नहीं मानना है, चूंकि ग्रन्थ कथित है इसलिये मानों, उसे नहीं मानना है, चूंकि विद्वान कथित, ब्राह्मण कथित है इसलिये मानो, उसे भी नहीं मानना है, चूंकि मेरे—बुद्ध के—द्वारा कथित है इसलिए मानो, तो उसे भी नहीं मानना है। जो कुछ तुम स्वयं कहते हो उसे मानो, उसी पर विश्वास करो।"

यह प्रयत्न था सभी तरह की पुरानी सरणियों के लौहपथ और वेद तथा ईश्वरनिर्मित नियमों के विरुद्ध मनुष्य के अपने अस्तित्व का विद्रोह। इस विद्रोह के राजनीतिक, धार्मिक या सांस्कृतिक प्रभाव का केवल एक चित्र मात्र आँखों के सामने रखकर यहाँ केवल उतना ही कहूँगा कि एक बारगी ही साहित्य की अभिव्यंजना की प्रणाली ही बदल गयी। गम्भीर मुद्रा का स्थान मुसकराती, उपालम्भ देती हुई मुद्रा ने ले लिया। जलद-सा गम्भीर और कुछ ऊँचाई से आता स्वर मानव-स्वर में बदल कर

बिलकुल पास से कहा गया लगने लगा। प्रस्तर की लम्बी रेखाओं में तराशी मूर्ति मोम की तरह संवेदनशील और कोमल लगने लगी।

किसी ने बुद्ध को गाली दी।

बुद्ध ने मुसकराते हुए कहा—"भन्ते यदि कोई किसी को कुछ दे और वह उसे लेने से इनकार करे तो वह वस्तु किसकी हुई?"

"देने वाले की भन्ते," व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"तो यदि मैं तुम्हारी दी हुई गाली न दूँ तो वह किसकी हुई?"

"मेरी ...." और यह सब का सब वैसे ही साहित्य में आ गया। इसी प्रकार के स्वयं अनुभूत सत्यों को कथा रूप में कहकर बुद्ध ने अपने उपदेशों को आगे बढ़ाया था। स्वयं अनुभूत कहानियों का ऐसा मनोविश्लेषणात्मक उपयोग आधुनिक व्यक्ति-प्रधान रचनाकार भी करते हैं पर उनमें और बुद्ध में क्या अन्तर है उसे कहने से न कहना ही अधिक समीचीन होगा।

किन्तु यह पुष्प की भाँति ताजी और आकर्षक-शैली स्वयं बुद्ध के बाद ही मुरझा गयी। साहित्य की (टोन) ध्वनि बदलने में वह इन्हीं अर्थों में समर्थ नहीं हुई। जैसे बौद्ध दर्शन को भारतीय दर्शन की छाँह लगी वैसे ही साहित्य को भी लगी। बुद्ध ने संस्कृत में जो न लिखने का आदेश दिया उसका तात्पर्य और कुछ हो न हो पर वैसा आदेश पालने से एक सबसे बड़ी बात यह अवश्य होती कि आगे के लेखक शैली की रूढ़ि से तो मुक्त रहते ही। शैली की रूढ़ि पर विशद विवेचन आगे के पृष्ठों के लिए छोड़ कर यहाँ यही कहना है कि किसी भी साहित्य की अपनी एक रूढ़ि बन जाती है, उसमें लिखने के अर्थ होते हैं उसका बहुत कुछ अंशों में अनुगमन करना नहीं तो साहित्य को समझने की सरणि के टूट जाने से दुरूहता और अप्रचलितत्व

दोष आ जायंगे। किसी भी अकेले लेखक का इतना साहस नहीं हो सकता कि वह अकारण झंझट मोल ले। बाद में उसी कारण बौद्ध धर्म समाप्त भी हुआ कि स्वयं उसके आचार्य तथा आस्तिक आचार्य में अभिव्यंजना का विरोध नहीं रह गया। कुछ नये अवतार हो गये और भारतवर्ष से ही उनके धर्म का महाभिनिष्क्रमण हो गया। दूसरे देशों में यह शैली और अभिव्यंजना का भेद (बौद्धों का) बहुत दूरी तक संस्कार वश स्पष्ट रहा जिससे उन्होंने वहाँ की चेतना को प्रभावित किया।

यही दशा किसी भी नये विद्रोह की होती है। देखा जाता है कि जहाँ वस्तुओं का विरोध होता है वहीं एक युग बाद दोनों मिल जाती हैं। फिर भी बौद्ध और जैन साहित्य बहुत अंशों में मानवीय रहे।

२

इतिहास के चक्र में गुप्त-साम्राज्य आया, चक्रवर्तित्व के प्रयोग स्थानिक शासनों पर किये गये। भारतीय साहित्य भी बड़े विशाल चौखटों और पटभूमियों पर चित्रित किया गया। विशाल स्तम्भों, विशाल गुफाओं, विशाल प्रसादों की बगल में साहित्य का कलश भी साधारण व्यक्ति से इतना ऊँचा उठा कि उसके सामने व्यक्ति बच्चों सा हिलता डुलता रह गया। वह एक युग था—विशालता का। उसने वृहत्तर भारत की जो विशाल छाया हमारे उस युग के साहित्य पर छोड़ी है वह फिर बाद में कहीं नहीं दीखी।

कालिदास के दिग्विजय के वर्णन, हरिषेण की प्रशस्ति की ध्वनि-पूरित पंक्तियाँ, स्कन्दगुप्त का भीतरी का स्तम्भ लेख सब एक ओर कला के विशाल और रंगभरे यौवन के प्रतीक हैं दूसरी ओर साफ है कि बड़ी से बड़ी प्रतिभा केवल पिछली कला को जीवन दे सकती है, चमका सकती है, विशाल बना सकती है, किन्तु स्वयं कुछ अपनी बात कहने का

अधिकार उसे नहीं है। कहने को इतिहास के अन्वेषक अयोध्या के ध्वंस में उज्जयिनी का ध्वंस देखे और रघु में कुमारगुप्त का रूप देखे, पर वह तो मेरी पिछली बात का समर्थन ही होगा। स्वयं कालिदास या हरिषेण कितने स्पष्ट हुए यह देखना है।

इसका सबसे बड़ा प्रमाण प्राचीन भारतीय सिद्धान्त शास्त्रों की रूपरेखा में देखा जा सकता है। नाटकों और महाकाव्यों को जिन सुनिश्चित रेखाओं पर चलने को कहा गया वह इसी परम्परा का निर्णय था। स्वयं कालिदासादि को नियम तोड़ने की निरंकुशता का शिकार होना पड़ा है, पर यह आवश्यक था।

साहित्य जब व्यक्ति के स्वाभाविक संकेतों से अलग एक विशेष भूमिका में चल रहा था तो उसके लिए शास्त्रादि की आवश्यकता एक ओर कलाकार के लिए तो थी किन्तु पाठकों का काम भी तो उसके बिना न चलता। सभी लिखने वाले इस विश्वास से लिखें कि पढ़ने या देखने वाले समझेंगे तभी तो साहित्य की सार्थकता थी।

बाण की कादम्बरी और हर्ष-चरित का निर्माण उस परम्परा के वैभव का दूसरा छोर है। कादम्बरी के स्थानिक चित्र यद्यपि थे बाण के पर उन्हें (Genrnlised) सर्व साधारण रूप दे कर बाण को चुप रह जाना पड़ा है। हर्ष चरित्र में 'महान् भुजागोयं' में बाण की मुद्रा खुलती है और व्यक्ति का एक चित्र सा सामने बनता है। पर वह बहुत कुछ कला की संक्रान्ति का युग था। कलाकार पिछली परम्परा से, पिछले समाज से काफी दूर पड़ गया था और स्वयं संशोधन चाहता था। भवभूति को सीता का अवसान विकल कर रहा था और वाल्मीकि और कालिदास की अगली परम्परा में होते हुए भी वे लक्ष्मण के मुँह से ही मानो वाल्मीकि से पूछ रहे थे— "ऋषिवर! एष तव काव्यार्थः?"

किन्तु शैली और आदर्शों की परम्परा की शक्ति कितनी अधिक थी यह इसी युग की रचनाओं से साफ दीख जाता है। हर्ष के बाद देश की स्थिति वही नहीं रही जो पहले थी। केन्द्रीय सत्ता की विराट् मूर्ति खंड-खंड में बँट गयी थी और यत्र तत्र शक्ति के बवंडर दौड़ दौड़ कर बुझ रहे थे। भविष्य किसी के भी हाथ में न था। जिन शक्तियों ने संस्कृत को राष्ट्रभाषा बनाया था वे भी भूत के गर्भ में विलीन हो गयीं थीं और स्थानिक देश भाषाएं जो कल तक अज्ञात कुलशील थीं लजाते-लजाते मुखर हो रही थीं। किन्तु साहित्यकार की दुनिया में कुछ नहीं था। वह अब भी कवि-गुरुओं के राज्य में था। उसके लिए दरबार जीवन साधन था और काफी अरसे तक आँखें सुदूर भूत में उलझी रहीं। भाषा के वेही मान ,अभिव्यंजना वही थी, वही विशाल शास्त्रीय चौखटा था पर मन्दिर के भीतर से मूर्त्ति ही गायब हो गयी थी या जीवन शून्य हो गयी थी। टूटी हुई मूर्ति की बगल में पुराने सिंहासन और पीठ स्थापित करने जैसा यह प्रयत्न था या जैसे नयी पीढ़ी के घर में पुराने वैभव के प्रतीक किसी रथ को इसलिए सड़क पर बैलों से खिंचवाया जा रहा था कि उससे कीमती और पुरानी वस्तु कहीं नहीं मिलती।

यह वस्तु वहाँ तो उतनी साफ नहीं हुई पर जैसे-जैसे शताब्दियाँ बीतने लगीं यह वैषम्य उग्र होता गया। कलाकारों ने निगाह वहीं रखी। रचनाएँ जब कम हुई तो वार्तिक बने, टीकाएँ बनीं शास्त्रीय विधानों तथा एक एक पदों पर आचार्य उलझने लगे और कला से व्यक्ति की दूरी निरन्तर बढ़ने लगी।

४

किन्तु इसमें सारा दोष साहित्यकारों का ही नहीं था। स्वयं समाज का चक्र ही चलते-चलते एक जगह रुक गया था। सामाजिक समस्याएँ एक

जगह आकर आवर्त की तरह अपने ही से जूझ रहीं थीं। मुसलमानी शासन में हिन्दू शासन एक विचित्र विरोधाभास में पल रहा था जिसने नक्कृति की ऐसी धुन्ध पैदा की कि किसी को सोचने का साहस ही नहीं रह गया था।

और रूढ़ियों के साथ शास्त्रीय शैली भी व्यक्ति को एक दम निरुपाय करती जा रही थी। निरन्तर ठंढी पड़ती वाणी की धारा में केवल एक ही स्वर सबसे अलग बज रहा था। वह स्वर था कबीर का।

किन्तु केवल 'कबीर' कह देने से ही काम नहीं चलेगा। हिन्दी में ही नहीं अपितु पूरे देश में भक्ति की यह ऐसी धारा थी। जिसे देश की दरबारी संस्कृति से कुछ लेना देना न था। वे भक्त साफ ही फतहपुर सीकरी जाने से विरत थे क्यों कि 'आवत जात पनहियाँ टूट' जाने की आशंका उन्हें थी और साथ ही 'हरिनाम भी बिसर' जा सकता था। इस पूरी भक्त-परम्परा ने तो नहीं किन्तु इसके अधिकांश कवि भक्तों की नवीनता, जीवनप्रद चेतना तथा इन्हीं से प्रभावित वाणी ने पूरे साहित्य को एक अद्भुत ताजगी से भर दिया था। शास्त्र पीछे वैसे ही छूट गये जैसे दरबार और सामने केवल रहा अपने मन का आदर्श। एक बारगी ही हम सारी रेखायें मिट जाते देखते हैं। कूपां की जगह 'बहते नीर' की सी रवानी भर गयी और व्यक्तिगत निवेदन, पीड़ा, क्षुद्रता, आत्मिक प्रयत्न की बिल्कुल नयी बातें और नये स्वर सुने जाने लगे;

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साँच
काम जो आवे कामरी कासे करें कमाच।

किन्तु इतने अधिक निवेदनों, बोध-प्रदर्शनों और फक्कड़पने के बाद भी विद्रोह हो कर भी नहीं हो सका। धीरे-धीरे तुलसी और सूर के स्वर

साहित्य के लोक में मद्धिम पड़ गये और दूर के मन्दिरों और भक्तों की कोठरियों में उनकी झंकार खो गयी।

भारतीय समुदाय ने अपनी भोगवादी परम्परा के चक्रव्यूह में उन्हें अभिमन्यु की तरह स्वीकार किया तो पर उनकी परम्परा न चलने दी। इसीलिए न तो सूर के पीछे कोई सूर है और न तुलसी के पीछे कोई तुलसी। दरबार वैसे ही रहे और कृष्ण-राधा अभिसार की शास्त्रीय विधि के मात्र लक्षण बन कर कुंजों में लुका छिपी खेलने लगे।

इस स्थल पर भक्त कवियों का आत्मभाव देखने योग्य है। वे ईश्वर के प्रति निज के विचार प्रकट करते हैं और तरह-तरह की मुद्राओं में कभी निवेदन, कभी उपालम्भ, कभी क्रोध, कभी निरीहता की भूमिका में अपने को रखते हैं। कबीर के पूरे साहित्य में ऐसी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ है जिनसे उनकी हलकी सी मूर्ति सामने आ जाती है:—

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो जारे घर आपना सो आवे मेरे साथ।
कबिरा खड़ा बजार में दोनों दल की खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर।

यहाँ कबीर की बाजार के एक कोने में खड़ी पर वहाँ की प्रवाहित साधारण जनधारा से थोड़ी अलग मुद्रा का व्यंगपूर्ण रूप सामने आ जाता है। उसका यह रूप व्यंग की सीधी चोटों से तो और भी साफ हो जाता है:—

'कंकड़ पत्थर जोरि के मस्जिद लिए चुनाय
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरो भयो खुदाय

किन्तु जहाँ वह ईश्वर की ओर देखता है, उसका व्यक्तित्व गम्भीर और छायापूर्ण तरलता से अस्पष्ट और साधारण हो जाता है:—

हमका ओढ़ावैं चदरिया चलती की विरियाँ

फिर भी कबीर के पूरे साहित्य में ऐसे स्वयं अनुभूत कितने ही पद हैं जो अगर किसी के प्रति न हों तो कबीर के निज के व्यक्तित्व के चित्र हैं। वे कबीर को व्यक्ति रूप में हिन्दी के सभी कवियों से अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

इसी प्रकार मीरा की अनुभूति भी व्यक्तिगत ही है। उसने इसी व्यक्तिगत अनुभूति के लिए व्रज की खाक भी छानी और स्त्री हो कर भी परंपराओं की बद्धता को एक झटके से अलग कर दिया।

'मेरे तो गिरिधर गोपाल' 'प्रभू जी चाकर राखो जी,' और 'सूली ऊपर सेज पिया की केहि विधि मिलना होय' का आध्यात्मिक अर्थ जितना है उतना ही इनसे व्यावहारिक जीवन की कठिनाइयों की सच्ची और साधारण अनुभूति को भी वाणी मिलती है।

लेकिन व्यक्तिगत टिप्पणियों का जितना व्यवस्थित दर्शन तुलसीदास में होता है उतना अन्यत्र नहीं दीखता। तुलसी ने समन्वय किया, क्रान्ति नहीं की पर अपने समय की सामाजिक दुरवस्था के विरुद्ध वे सदा जूझते रहे। आलोचनाएँ करते समय वे व्यवस्थापक की ऊँचाई से बोलते हैं पर साथ ही उनके व्यक्ति का स्वरूप भी कुछ कम नहीं झलका है। ऐसे वर्णन छिटफुट है क्योंकि मूलतः वे परम्परा की अनुगतता के समर्थक थे। उन्होंने प्राचीन कथा और धर्म को युग-सम्मत नयी व्याख्या दी क्रान्ति नहीं की, इसलिए उनकी अपनी सीमाएँ थीं जिनका अतिक्रमण वे नहीं कर सकते थे।

किन्तु ऐसे स्थल विशेषकर कवितावली में कम नहीं है जहाँ वे सीधे समाज से स्वयं कुछ कहने लगते हैं। भारत की दुर्दशा की बात करने लगते है और तब सोचते हैं कि:—

"खेती न किसान के भिखारी को न भीख बलि
बनिज को बनिज न चाकर को चाकरी"

स्वयं अपनी बात भी करते हैं—

"भलि भारत भूमि भले घर जन्म"
माँगि के खैबो मसीद को सोइबो, लैबौ को एक न देबे को दोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जात बिगारौ न सोऊ।।

खलों के लिए जो कुछ उन्होंने कहा है वह अपने में पूर्ण एक व्यक्ति प्रधान निबन्ध जैसा ही हो गया है। व्यक्तिगत संकेत, व्यंग और हास्य के पुट के कारण वह पूरे रामायण में अपनी तरह की अकेली कला है।

इन सब के अतिरिक्त साहित्य पर उनकी उक्तियाँ भी काफी व्यक्तिगत हैं। स्थापना शास्त्रीय है पर व्याख्या उनकी अपनी है। अब बात रही उनके व्यक्तित्व की, वह कबीर से कम नहीं उभरा है। एक मुक्तक के कवि की तुलना में एक प्रबन्धकार की बहुत सी लाचारियाँ होती हैं इसलिए तुलसी को रामायण में खोजना ठीक न होगा। वहाँ उनका क्रोध, उनकी दयार्द्रता, उनका उत्साह, उनका धैर्य, उनका साहस सब 'राम की नयी, युग-सम्मत मूर्ति गढ़ने में लग रहा है। अधिक ध्यान से देखने पर राम का चित्र घुल जाता है और तुलसी की रोषयुक्त मुद्रा साफ दीख जाती है।

अलग से भी तुलसी का व्यक्तित्व कम उदात्त नहीं है। एक स्थलपर काल को ललकारते हुए कहते हैं :-

"ब्राम्हण ज्यों उगल्यो उरगारि, हौं त्यों ही तिहारे हिये न हितैहौं।"

काल की भयंकर लपेट से निकलने की उपमा वे जीमूतवाहन और गरुड़ की कहानी से देते हैं। उनकी संघर्ष करती हुई यही आत्मा रामके अन्दर भी बैठी हुई है। तुलसी में इस प्रकार जहाँ हम पुरानी परम्परा

का व्यक्तित्व को पीछे रखना भी देखते हैं वहीं यह भी देखते हैं कि उन्हें अपनी बातों को स्वयं ही बिना किसी के मुँह में रखे भी कह देने में कोई हिचक नहीं है।

लेकिन इतना कह कर भी मेरा कहने का तात्पर्य यह नहीं हैं कि ये सब रचनाएँ आत्मप्रकटीकरण की कोटि में आती हैं। अधिकतर इनके भाव विशेष से साधारण किये गये हैं और कष्ट निवेदन का अधिकांश व्यक्तिगत नहीं आरोपित ही है। ऐसा न मानने से साहित्य का अन्तः-साक्ष्य हमें पंडित रामनरेश त्रिपाठी की खोजों की सी हास्यास्पद स्थिति में डाल देना।

५

पूरा रीति-युग व्यक्ति की पराधीनता का युग है। साहित्यकार का प्रचलित रूढ़ियों के सामने जितना करुण बलिदान इस युग में देखने को मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। कारण यह था कि स्वाभाविक राह छोड़े काफी दिन हो चुके थे। संस्कृत का शास्त्र ही जब स्वयं स्वाभाविक कलात्मक अभिव्यक्ति से दूर था तब भला उसका अनुकरण कहाँ तक जीवनप्रद हो सकता था। फलतः इसी काल में दो प्रवृत्तियाँ साफ दीख जाती है। एक रीतिबद्ध रचना और दूसरी स्वच्छन्द धारा। एक लक्षण ग्रन्थों के बल पर साहित्य को पहेली बनाती जारही है दूसरी कहती है;—

"समुझै कविता घनआनंद की हिय आंखिन प्रेम की पीर तकी।"

यदि व्यक्तित्व-प्रधान निबन्धों को गीति-काव्य के साथ रखा जा सकता है, तो घनआनन्द की संतप्त कविता का रीतिकाल में निराला महत्व है। दरबार की तुनुकमिजाजी से जिसे ठेस लगती है और तूफानी नादिरशाही के अन्धड़ से जो पददलित कर दिया जाता है उस कवि की

अनुभूतियों का दर्शन भारतीय साहित्य-परम्परा से व्यक्ति की स्थापना की परम्परा में एक ऐतिहासिक महत्व रखता है। कितनी वेदना और कष्ट से घनानन्द एक दरबारी कवि से भक्त कवि की श्रेणी में आगये। महाकवि देव को भी एक युग के पश्चात ऐसा ही धक्का लगा था जिससे वे तिल-मिला उठे थे। एकाएक उनकी कविता का आरोपित सारा का सारा आदर्शवादी रूप जल गया, कहने के लिए रची गयी ओट एकबारगी ही झटक कर वे चीख उठे थे —

हौं जुपै जानतो कि जैहे तू विषय के संग
ऐरे मन मेरो तेरो हाथ पाँव तोरतौं,
चलत न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीनि मारि मुख मोरतौं,
आजु लौं कितक नरनाहन की नाहीं सुनि
हार लो निहोरि होरि बदन विलोकतौं,
भारी प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौं बांधि
राधा-वर-बिरद के बारिधि में बोरतो,

....

संपत्ति में कांय कांय विपति में भांय भांय
कांय कांय भांय भांय देखी सब दुनिया,

लेकिन कितेक नरनाहन की नाहीं सुन कर जागे हुए देव किसी नयी भूमि की-किसी नयी चट्टान की-स्थापना न कर सके, जिस पर खड़े हो कर वे इस बन्धन और विद्रूप बन गयी व्यवस्था के खिलाफ अपने स्वच्छन्द व्यक्तित्व की मशाल जला कर प्रकाश कर सकते। उन्हें यहाँ से हटकर दूसरी दिशा में जाना पड़ा किन्तु वहाँ भी कवि के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए कोई स्थान नहीं था।

यहाँ हमें ऐसे कवियों को केवल इसलिए नहीं दोष देना है कि वे अपनी स्थिति स्वतंत्र नहीं घोषित कर सके । यदि ऐतिहासिक काल-धारा का प्रवाह देखा जाय तो कितने ही ऐसे अभागे व्यक्ति दीखेंगे जिन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध कभी यहाँ कभी वहाँ रहना पड़ा है । किसी प्रवृत्ति विशेष के दुर्मद रथ के पीछे बँधे वे अपनी पूरी महानता के होते हुए भी दयनीय लगते हैं । इस दिशा में एक उदाहरण देकर मैं समाप्त करूँगा । राजा जसवंत सिंह ऐसी अभागी हस्ती उस युग में कम मिलेगी । विस्फोट की हलचल के बीच उसने तलवार चलायी थी किन्तु उनके रचित भाषा-भूषण में कहीं उस झंझा का संकेत तक नहीं है । इतनी विकलता जिस साहित्य का ढाँचा नहीं छू सकी उसे क्या कहा जाय ! इन सब का कारण यही है कि साहित्यकार अपनी प्रशंसा में कही गयी प्रशस्तियों में भूल कर निरन्तर अपना बलिदान करता रहा । साहित्य को जब जब ताजगी मिली है तब तब देखा गया है कि साहित्यकार ने जमीन बदली है, पर थोड़ी ही देर बाद घेर लेती शान्ति का मतलब ही यही है बिना अपनी जमीन पर पैर जमाये इस तीक्ष्ण धारा में एक क्षण भी टिकना असम्भव है । यही घनानन्द के साथ सच था यही देव के ऊपर घटित हुआ । आज भी (यद्यपि दूसरी परिस्थिति में) साहित्यकार की पराधीनता की स्थिति दूर नहीं हुई है ।

६

किन्तु सामाजिक परिस्थिति तब बदल रही थी और वह यों ही बिना प्रभाव छोड़े इस बार जाने वाली नहीं थी । पहले के परिवर्तनों ने सब कुछ किया था किन्तु सामाजिक व्यवस्था की नीवें पूरी नहीं हिल पायीं थीं, क्योंकि आक्रामकों या राज्य करने वालों को भी उसी सामन्ती वृत्ति में ढल जाना पड़ा । बड़े दरबारों की छाया में छोटे दरबार पलते ही रहे

और यहव्यवस्था थोड़ा बहुत हट बढ़कर सोते से उठाये गये कुत्ते की तरह इधर-उधर घूम-घाम कर फिर वैसे ही सो गयी थी जैसे कुछ हुआ ही नहीं। इस बार सब यह कुछ बदल गया। अंग्रेजों का आक्रमण कुछ दूसरी तरह का था।

इस बार के आक्रमण ने कब की सभी व्यवस्था को एक धक्का दिया और राजशाही ध्वस्त हो गयी। बनिया सभ्यता पुरानी परम्पराओं की नकल का ढोंग करके भी मूलतः उससे भिन्न ही रही। समाज में मध्य युगीन घेरा बन्दियाँ ध्वस्त हो गयीं। सामने से (महादेवी के शब्दों से) राजा का सिंहासन और धर्म का वटवृक्ष दोनों हट गये थे और एकाएक सामने आ गई स्थिति निरन्तर उत्तर माँग रही थी। वहीं पर महादेवी जी ने लिखा है कि उस युग के रचनाकारों का क्या कम महत्व है कि पहले पहल उन्होंने बढ़कर तूफान से उसका परिचय पूछा। परिस्थिति को सीधे छाती खोल कर बिना किसी रहस्य का आवरण दिये स्वीकार किया गया।

(१) गोली और संगीन के साथ उठे नये राज्य ने नयी दुनिया और इस पुरानी के बीच खड़ी दीवार में एक रास्ता बना लिया।

(२) नये राज्य ने एक नया वर्ग मध्य वर्ग बना दिया। नये ज्ञान ने उस वर्ग की विफलता को नयी वाणी भी दे दी।

और समाज में यह तीसरी भूमि की स्थापना थी जिस पर खड़े हो कर नयी तरह से ललकारा जा सकता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दों में भारतेन्दु बाबू ने प्राचीन और नवीन के संधिस्थल पर खड़े हो कर ऐसा जोड़ा कि जोड़ का पता नहीं चलता। आगे चलकर फिर वे कहते हैं कि भारतेन्दु ने समाज को उसका भूला हुआ साहित्य दिया। मेरे विचार से ये दोनों बातें एक दम ठीक बैठती नहीं। वस्तुतः भारतेन्दु के रूप में भारतीय समाज की नयी भूमि की खोज की आकांक्षा रूप धर रही थी,

अभी तक पूरा स्वरूप स्पष्ट नहीं हुआ था किन्तु साहित्य की भारी भरकम व्यवस्था के बीच साहित्यकार का निज का निज के सम्बन्ध में कहा अब उतना उपेक्षित और हास्यास्पद नहीं रह सका जितना पिछली पीढ़ियों में था।

अतः आगे का विमर्श अगले परिच्छेदों पर छोड़ कर यहाँ मैं पुनः भूमिका में कहे गये वाक्यों का स्मरण कर रहा हूँ कि व्यक्ति-प्रधान निबन्ध या साहित्य का महत्व केवल शैली की नवीनता का ही महत्व नहीं हो सकता। उसके विकास के पीछे एक निर्णायक सामाजिक प्रक्रिया भी कार्य करती रही है। साहित्य में व्यक्ति की अपनी स्थापना का प्रयत्न शताब्दियों के संघर्ष का परिणाम है और उसकी स्थापना नवीन युग की सबसे बड़ी देन है। विज्ञान के, दर्शन के और सामाजिक क्रान्ति के सिद्धान्तों की ही कक्षा में उसका विवेचन होना चाहिए।

व्यक्ति और निबन्ध

व्यक्ति और शैली सम्बन्धी पिछले परिच्छेदों को पृष्ठभूमि में रखकर यहाँ आधुनिक निबन्ध और उसके रचनाकार पर विचार करना है। यों तो रचना करने का एक निश्चित और क्रियात्मक रास्ता होता है जिसमे सभी प्रकार की अनुभूतियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। रीड तो यहाँ तक कहता है कि एक दृष्टि से तो सभी कलाएँ व्यक्तित्वप्रधान ही होती हैं[1]। इस दिशा में व्यक्ति के जीवन-दर्शन और मानसिक स्थिति का विशेप महत्व होता है। पिछले अध्यायों में इतिहास की आलोचना में इसपर विचार किया गया था कि सब कुछ अपनी अनुभूति होते हुए भी रचनाकार उस युग की प्रचलित परम्परा का एक समर्थक स्वरमात्र बनकर रह जाय तो उसके व्यक्तित्व की स्थापना कहाँ हुई ? ऐसे स्थल

---

1 The act of writing involves on assertion positive quality which deserves the some what more dignified word 'Personality'—in a way all the arts of rhetoric are personal in that they depend on the particular instinct and mental habit of the writer

Herbert Reed, English prose Style.

पिछले साहित्य में कम हैं जहाँ मुक्त अनुभूतियों का दर्शन हो। लूकस का यह कहना कि अपने व्यक्तित्व के प्रति आस्था या विश्वास की कमी ही इसका कारण है यहाँ बहुत कुछ उचित है अवश्य, किन्तु इस स्थिति का कारण इतना ही नहीं है। व्यक्ति की विचारधारा के पीछे युग का समर्थन और प्रतिरोध भी कार्य करता है और क्रिया और प्रतिक्रिया की लहरों में चेस्टरटन के शब्दों में 'तीसरी लहर' बनने का विश्वास ही 'व्यक्तित्व के विश्वास' का असली नाम है।

इस दिशा में बाधा केवल इतनी ही नहीं है। सबसे बड़ी बाधा तो स्वयं रचनाकार के भीतर ही आ खड़ी होती है। विरोधी परिस्थितियों के बीच पड़ी उसकी स्थिति का चित्र उपस्थित करते हुए चेस्टरटन ने एक स्थल पर कहा है कि न्यूफाउन्डलैन्ड के पास समुद्र की गर्म और बर्फीली पानी की धाराएँ परस्पर टकराती हैं और परिणामस्वरूप वहां निरन्तर कुहरे का साम्राज्य छाया रहता है। मनुष्य के अन्तस् में ऐसे कुहरे और आँधियों का सृजन विशेषकर संक्रांतिकाल में हुआ करता है और काफी दूरतक विश्वास का प्रकाश-स्तम्भ आँखों से ओझल रहता है। परस्पर टकराते और रास्ता रोकते तत्वों में स्वयं अपनी तर्कना; जानकारी, भावुकता और कल्पना का बड़ा हाथ होता है, साथ ही यों ही बना ली गयी धारणाओं का भी अपना महत्व होता है।[1]

इन सबसे मुक्त होने का प्रयत्न यद्यपि कष्टसाध्य होता है किन्तु प्रयत्न करने की स्थिति व्यर्थ नहीं हो जाती। आत्मा की चिन्ता में

1. The personal force is interfered with, with whether by logic, by intelligence, by emotional or speculative end, or by various fanaisies and fictions, which, we unconsciously create to deceive ourselves.

ही तो 'व्यक्तित्व दर्शन' होता है। संघर्ष में पड़ी आत्मा का जितना ही जीवन-पूर्ण स्वरूप उपस्थित किया जाय उतनी ही इस प्रकार की व्यक्ति-प्रधान कला का शतदल विकसित होता जायगा। यहाँ आकर साधारण परम्परामुक्त लेखक से इस प्रकार के रचनाकार को हम अलग खड़ा देखते हैं।[1] विश्वामित्र की भाँति यह दूसरा विश्व बनाने का विश्वास है और इस दिशा में वह हताश भी नहीं होता। नयी तरह से आगे बढ़ने का यही दृष्टिकोण धीरे-धीरे उसकी कला को कुहरे से निकालकर एक निश्चित रूपरेखा प्रदान करता है और एक शैली विशेष की नींव पड़ती है। यहाँ इन दोनों शैलियों का स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए।

पहले प्रकार की अशरीरी भावनाओं की अभिव्यंजना भी अशरीरी रूप में होगी उसका परिणाम होता है भावुकता और कल्पना का बाहुल्य।

किन्तु पिछली प्रकार की शैली का गुण होता है विवेक और संतुलित अनुभूति (Sensibility)। इसको कला के उपयुक्त बनाने के लिए ऐसी भावना की आवश्यकता इसके पश्चात होती है जिससे उस विवेक और व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का पूर्ण विस्तार किया जा सके और उसके द्वारा आत्मप्रक्षेप, आत्माभिव्यंजन और सबसे अन्त में निर्माण में रचनात्मक सहयोग पाया जा सके।

---

1. The (common) writer submits to a scale of values which he finds ready made in the world he lives in. But another type of writer does not wish to measure himself against an objective reality, all he desires is to be assured of his own reality, of the positive existence of his own individuality and his own unique reaction.

(Herbert Reed. English Prose Style)

यह सब तभी सम्भव होता है जब विश्व की प्रभावित धारा में से अपने विश्वास का आलंबन चुन कर उसे अपनी जीवन धारा में मिला लिया जाय। उस आलंबन का उसी क्षण से नया जीवन प्रारम्भ होता है। और स्वयं अपने को भी मुक्ति का सन्तोष प्राप्त होता है।[1] कला को इस प्रकार अपने नये अर्थ में प्रयुक्त करने का प्रयत्न करते समय रचनाकार परम्परा से चली आती पूर्ण विकसित और गौरवपूर्ण शैलियों के सम्मुख अपना क्या लेकर खड़ा हो यह प्रश्न बना ही रहता है। यहाँ यही कहना है कि इस दूसरे प्रकार के शैलीकार के पास वस्तुस्थिति और भावना का एक ऐसा योग अवश्य उपस्थित हो जाता है जिसे एकाएक वह रेखाओं और अंकों की सी निश्चित सीमाओं में रखकर भले ही आपका संतोष न कर सके किन्तु वाणी में जो उसकी सद्यः जात अछूती भावना छनकर उपस्थित होती है वह किसी भी सामने बैठे व्यक्ति को विश्वास दिलाती है कि यह झूठ नहीं हो सकता।

धीरे-धीरे इस शैली ने अपना मूर्तस्वरूप भी स्पष्ट किया। रूसो, लैम्ब, स्टीवेन्सन या अन्य लेखकों की निरन्तर विकसित होती हुई शैली में यह तत्व स्पष्ट देखा जा सकता है। जहाँ तक शैली के लिए आवश्यक है कि वह अपना अलग से रूप रखे, अलग से ही उसकी व्याख्या हो सके और पिछली शैलियों की भाँति स्पष्ट रेखायें भी उसमें हों वहाँ अब इस प्रकार के प्रकटीकरण को बिना हिचक के शैली की संज्ञा दी जा सकती है।

यहाँ शैली के सैद्धान्तिक स्वरूप का उतना हमें एकबार देख लेना

---

1 We even go so far as to express a state of satisfaction. H. Reed

होगा, जिससे हम यहाँ यह देख सकें कि 'आत्माभिव्यंजन' का वस्तुतः क्या अर्थ होता है ? किसी भी रचना का अपना एक वैज्ञानिक क्रम होता है। जिसका अन्तिम छोर पाठक में अवस्थित है। समालोचक चूंकि एक चेतनाशील पाठक (enlightened) होता है इसलिये इसकी स्थिति पर यहाँ अलग से विचार नहीं करना है।

रचना का विधान इस प्रकार का होता है :—

१.	रचनाकार	वस्तु	रचनाकार के मन में उसका ग्रहण।	अभिव्यंजित रूप

२. रचना ←——————————→ पाठक

सेन्टसबरी के अनुसार रचना का यही क्रम होता है। रीड भी यही मानता है। वाल्टर रेले ने भी इसी का प्रतिपादन किया है, एबरक्राम्बी ने भी आलोचक के साथ इसका क्रम मान लिया है।

रचनाकार पहले किसी वस्तु को देखता है और देखने के साथ ही उसके अन्त: में एक विशेष भावना उत्पन्न होती है और एक झटके में भीतर गयी वस्तु चिन्तना की धारा में एक विचित्र व्यवधान उपस्थित कर देती है। मोती बनाने वाले कीड़ों की खोल का भीतरी भाग बहुत ही नरम और संवेदनशील होता है, इसलिए यदि किसी भी तरह कोई बालू का कण या और कुछ उसमें चला जाता है तो उसकी रगड़ से बचने के लिए वह कीड़ा अपने मुँह से ऐसा तरल पदार्थ निकाल कर उससे लपेटने लगता है कि थोड़ी ही देर बाद मोती की शकल बनने लगती है। पहले का कण बाद का मोती बनकर सामने आता है। ठीक

यही स्थिति मन की भी होती है। किसी भी वस्तु को वह अपने पास खटकती पाकर बिना उसे अपनेपन से घेरे नहीं रह सकता। देरतक मन में परिपक्व होनेवाली वस्तु कलाकृति बनकर पाठक के सामने आती है और एक चक्र पूरा हो जाता है।

ऊपर कही गयी उपमा की अपूर्णता की ओर भी दृष्टि डालना चाहिए है। एक कीड़े के सामने उसके उस कार्य का कोई और कारण नहीं होता, किन्तु एक रचनाकार की स्थिति वैसी नहीं। वह चाहे, न चाहे उसके ऊपर वातावरण का प्रभाव पड़ता ही है। इस दिशा में काफी विचार परिशिष्ट के 'इतिहास' अंश में किया जा चुका है। शैली कभी-कभी वातावरण से ही खाद-पानी लेती है और कभी विरोध की स्थिति में प्रतिक्रिया का उद्वेग भी शैली में जीवन भरता है। वातावरण के साथ पिछली परम्परा का भी महत्व कम नहीं है। 'परम्परा' को छोड़ने का नारा लगानेवाले कहेंगे कि यह तो कोई बात नहीं हुई किन्तु यह बात केवल 'वस्तु-प्रवृत्ति' की परम्परा तक ही नहीं सीमित है। परम्परा शैली और अभिव्यंजना की छोटी-छोटी बातों तक में देखी जाती है और एकाएक उन्हें छोड़ देने का ही परिणाम यह देखा गया है कि पाठकों के लिए रचना दुरूह हो गयी है।

किन्तु सबसे प्रमुख हैं 'पाठक'। इस वर्ग को प्रसन्न रखने के लिए भी लेखक को बहुत कुछ करना होता है, पाठक ही सबकी कसौटी होता है और एक निबन्धकार इस तत्व की कभी उपेक्षा नहीं कर सकता।

शैली की दृष्टि से विचार कर लेने के पश्चात् अब हम अपने विषय के एकदम पास पहुँच जाते हैं। वातावरण, परम्परा, पाठक और स्वयं अपनी मनःस्थिति पर विचार कर लेने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे

कि ये चारो वस्तुएँ एक ही पंक्ति में नहीं रखी जा सकतीं। ये चार धर्म है जिनके समाहार का प्रयत्न ही कला की सफलता है।

निबन्ध—दो दिशाएँ

शैलियों की विभिन्नता और अन्तरंग के इसी समाहार पर रचित भिन्न शैलियों की रचनाओं में निबन्ध-साहित्य का अपना अलग महत्व है क्योंकि इसका सम्बन्ध आत्माभिव्यंजन के सापेक्ष (Subjective) तथा निरपेक्ष (Objective) दोनों तत्वों से होता है। निबन्ध के जितने भी भेद बाह्य रूपरेखा की दृष्टि से किये गये है वे सब इन्हीं दो तत्वों के मात्राभेद पर आधारित हैं।

निबन्धों का पहला प्रकार गम्भीर विवेचना और सिद्धान्त-स्थापन से सम्बन्ध रखता है और दीर्घता उसका साधारण गुण है। रीड के शब्दों में वह किसी विशेष तत्व या पक्ष की साग्रह स्थापना के लिए प्रयुक्त होता है। भले ही मान्टेन 'एसे' अपने निबन्धों के लिए प्रयुक्त करे उसमें आरस्तू लांगिनस होरेस को 'ट्रीटाइज' भी सम्मिलित है और बाद का वाल्टर पेटर का विवेचन भी उसी की सीमा में आता है। इसके विरुद्ध व्यक्तिप्रधान निबन्धों को मराठी वालों ने 'ललित निबंध' कहा और यों ही प्रो० मनोरंजन सिनहा 'एसे' को ऐसे ही कहा करते हैं। कुछ कह देने के लिए ही लेखनी उठायी। मराठी के प्रसिद्ध आलोचक श्री ना० सी० फड़के ने मराठी के ऐसे ललित निबन्धों के प्रतिनिधि संग्रह 'नवे लेणे' की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में ऐसी ही निर्णयात्मक रेखा खींचकर इन दो पद्धतियों को अलग कर दिया है। उनकी यह विवेचना केवल निबन्धों के बाह्य स्वरूप सम्बन्धी नहीं है, वे आन्तरिक क्रान्ति को ही प्रधान स्थान देते

हैं। बाहरी स्वरूप के भेद के लिए वे पुराने बड़े अंगरखे और आज के छोटे पहनावे की सुन्दर उपमा देते हैं[1]। ललित का प्रयोग भी उनका बड़ा ही सार्थक है और वह शैली के मृदु स्पर्श की स्वाभाविकता की ओर स्पष्ट इंगित करता है। मांटेन ने तो स्पष्ट ही कहा कि ये तो मेरी स्वच्छन्द कल्पनाएँ हैं और उनका परिचय तो यही है कि वहाँ मैं अपने को खोलकर रख देता हूँ[2]। यहाँ प्रत्येक दार्शनिक, इतिहासकार, आलोचक, विज्ञानवेत्ता को निबन्धकार मानने का भ्रम भी मिट जाना चाहिए। ऐसा न करने से जो अव्यवस्था उत्पन्न होगी उसका निराकरण होना फिर सम्भव नहीं होगा।

यह शंका भी ठीक नहीं है कि आज के छोटे निबन्ध अपूर्ण होते हैं। गम्भीर और दीर्घ निबन्धों का अपना गौरव चाहे जितना हो किन्तु उनके किसी भी अंग की सहायता लेकर कोई भी दूसरी पद्धति नहीं विकसित की जा सकती। उसी प्रकार छोटे होने पर भी निबंधों का अपना एक स्वरूप और पाठक तक पहुँचने का अपना क्रम होता है। प्रीस्टले ने नये लेखकों के प्रतिनिधि के स्थान से कहा है कि इन निबंधों की रेखा में पुरानी रचनाओं और सिद्धान्त, इतिहास, विज्ञान की रचनाओं का कोई

---

१ कालांतले आम्हा मराठी लोकांच्या अंगापरचे लांब लांब अंगरखे हलु' हलु' लुप्त होऊन त्यांची जागा सुत-सुतीत लांड्या कोटांनी घेतली, त्यांच प्रमाणे मराठी निबंधाच्या पूर्वीचा विस्तार नाहीसा होऊन।

परंतु बाह्य स्वरूपांतील या फरका हून निबंधाच्या अंतरंगात व हेतू तच जी क्रांति झाली ही अधिक महत्वाची आहे।

प्रो० ना० सी फड़के।

2. These are the fancies of my own, by which I do not pretend to discover things, but to lay open myself—

स्थान नहीं हो सकता[1]। प्रो० फड़के ने तो ललकारते हुए जैसे कहा है कि मैं चाहता हूँ कि आप पूज्य श्री तिलक के निबन्धों को १० टुकड़ों में बाँटकर उन्हें ऐसे १० निबन्ध बना दीजिए। और यह तो रही बाह्य की बात। अन्तरंग में तो आप कुछ कर ही नहीं सकते, और मुख्य अन्तर भी जो है वह यहीं होता है। पत्रों के 'अग्रलेखों' से खंडनात्मक मंडनात्मक निबन्धों की तुलना करते हुए उन्होंने ऐसे निबन्धों का हेतु मत-प्रचार और गुण पांडित्य कहा है। दूसरी ओर लेखक पाठक से वार्तालाप करता चलता है और कभी ऐसी बात नहीं कहता जिसमें यह लगे कि उसने पाठक के पार्श्व से हटकर उपदेशक की पीठिका पर पाँव रख लिए हैं। प्रयुक्त होने वाले सभी प्रकारों से इन निबंधों की यही विशेषता है जिसे स्पष्ट करने में शताब्दियों को परिश्रम करना पड़ा है।

परिशिष्ट भाग में इस पक्ष पर पूरा विवेचन प्रस्तुत करते हुए लिखा जा चुका है कि पिछले प्रकार की रचना-शैलियों में लेखक स्वयं बराबर पीछे रखा जाता रहा है।[2] उसका अपने प्रति विश्वास इतना नहीं होता और पाठकों के सामने जाने की झिझक (फड़के इसे संकोच कहते हैं) इतना मुख्य रूप धर लेती है कि वह एकदम लाचार हो जाता है।

---

1. This sweeps away at one blow, all the philosophers, historians, scientists masquerading as essayists.

(J. B. Priestly. English past & present)

2. When we are reading a novel, the last thing we want to be reminded of is the existence and the peculiarities of the author must be forgotten in the story (R. W. Japson. Essays by modern writers.)

इन दोनों प्रकार की शैलियों के विवेचन का समाहार करते हुए हम देखते हैं कि एक लम्बे समय तक दो पक्ष इस प्रश्न पर जूझते रहे हैं। एडीसन हलकी कथात्मकता तथा बातचीत के ढंग की ओर झुकने की प्रवृत्ति दिखा रहे थे और डा० जानसन उसे एक अधूरी, अस्तव्यस्त अधपक भावनाओं का प्रदर्शन मात्र मानते थे। निबन्धकारों के इस कथन पर कि ऐसी रचना परिश्रमसाध्य है क्रैब ने स्पष्ट ही कहा कि हलके लोगों के लिए यह शैली अधिक उपयुक्त सिद्ध होगी। हडसन[१] ने भी इसके समर्थन की प्रवृत्ति न दिखायी। मैरिट ने दूसरा समर्थन किया कि निबन्ध को सरल होना चाहिए और व्यक्तिगत ढंग से धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। 'आक्सफोर्ड डिक्शनरी' ने दोनों पक्षों की विशेषताओं पर ध्यान रखते हुए मध्य मार्ग निर्धारित किया।

शैली का एक प्रमुख पक्ष यह भी है कि वह कभी-कभी व्यक्तित्व को भी दबाकर उसका पीड़न करती है और कभी उसे वाणी हीन बनाकर स्वयं ही सब कुछ पर छा लेती है।[२] परिशिष्ट अंश में इस पक्ष पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। यहाँ उसके कार्यपक्ष की प्रक्रिया पर ही विचार करना है। शैली की यह प्रमुखता विशेष कर ऐसे युग में देखी जाती है जब समाज अन्वेषण तथा पुनरुद्धार की भावना से रहित होता

1. An essay is a loose sally of mind, An irregular undigested piece, not a regular and orderly composition
(Hudson: ' The study of literature' .)

2. Tho first sin against style as against good manneres is to obtrude or exploit personality. The very greatest work in literature—"Seraphically Free from point of personality", Arthur Quiller Couch.

है। क्रान्ति की मुद्रा में साहित्यकार भी ध्वनि बदल देते हैं किन्तु ऐसे मौके भी आते हैं जब वे विचार करने के लिए ही बैठते हैं। प्राचीन दर्शन, और नवीन विज्ञान के समन्वय का प्रयत्न आज यहाँ देश में काफी दिन से चल रहा है। एक बड़ा वर्ग काफी दिन से यही मानता आ रहा है कि वहाँ भी इसी मुद्रा में कहा गया कि महान कला वही हो सकती है जो वैज्ञानिक हो और उसमें व्यक्ति निरवशेष हो जाय।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि सबसे बड़ा भेद जो इस नयी और पुरानी पीढ़ी का है वह शैली की कलात्मकता का उतना नहीं है जितना मानसिक विचारधारा और दर्शन का है। हमें खुले दिल से इस पक्ष पर विचार करते हुए यह देखना है कि नवीन मस्तिष्क पहले की अपेक्षा अधिक लचीला है।[2] हम आज केवल बंधे आचारशास्त्र पर चलने में सन्तोष का अनुभव नहीं करते और न यही चाहते हैं कि किसी भी वस्तु का निर्णय शाश्वत सिद्धान्तों की कसौटी पर किया जाय। यहाँ आकर प्राचीन परम्परा चिन्तित होती है कि सब कुछ समाप्त होता जा रहा है और साहित्य में अनियमितता और अनाचार फैलता जा रहा है। किन्तु यह तो वही पुरानी मृत भाषा के नियमों को लेकर नवीन चेतना और बरसाती वेग से बही भाषा बाँधने की सी बात हुई। नवीन पीढ़ी, विशेष करके पिछले महायुद्ध

1. The great art is scientific and "Flaubert" and impersonal. 'Flaubert'

2. But perhaps the greatest difference between old essay and the new lies not so much in craftmanship as in the attitude of the mind & general philosophy from which it springs—

(J. W. Marriott.)

के बाद से ही, एक दयनीय अनिश्चितता की स्थिति में से रास्ता खोज रही है। इस विश्वास के लिए वह लोहे का रास्ता भी नहीं मानती क्योंकि उस पर से विश्वास ही हट गया है।

अन्त में हम ह्यूवाकर के साथ सहमत हुए कहते हैं कि हम को निबन्ध के नाना प्रकार के भेदों को दो पक्षों में ही सीमित मान लेना है। दोनों के भेद प्रभेद पर पीछे काफी विचार हो चुका है और माना जा चुका है कि यद्यपि नाम में कोई अन्तर नहीं दीखता पर व्यवहार में यह भिन्नता स्पष्ट है। व्यवहार ने ही एक को दूसरे के सम्मुख पूरे विश्वास से खड़ा किया है और अपने ऊपर लगे सभी आक्षेपों को अपनी विशेषता घोषित की है।

निबन्ध और पं० रामचन्द्र शुक्ल

यहीं पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचारों का विवेचन होता चले तो अच्छा हो। क्योंकि उनकी विचार-विवेचना के साथ ही निबन्ध के भेदों उपभेदों की अब तक की मान्य विचार-धारा की विवेचना भी हो जायगी।

एक स्थान पर वे कहते हैं कि "भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं।" आगे बढ़कर और स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा कि "इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेन्दु में भी हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य निरूपण की दूसरी।" यहाँ स्पष्ट ही वे इन प्रवृत्तियों का नामकरण न करके केवल उल्लेख मात्र करके रह जाते हैं। इस प्रकार के विवेचन को

सैद्धान्तिक विवेचन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। बिना किसी वस्तु विशेष की ओर इंगित किए ही विभाजन कर देने की इस प्रवृत्ति को मात्र सूची शैली (कैटलागिंग) ही कह सकते हैं।

द्वितीय-उत्थान में उन्होंने निबन्धों की व्याख्या का हल्का प्रयत्न किया है। जिस साहित्य-शैली को भारतेन्दु युग की आलोचना में वे बिना 'कुलशील' बताये ही सम्मिलित कर आये थे उसके लिए द्विवेदी-युग में वे कहते हैं :—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव है।" आगे वे निबंधों का विभाजन भी करते दीख पड़ते हैं :—"निबंध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते हैं :— विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। लक्ष्य भेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के अन्दर वह प्रलाप-शैली भी आयेगी जिसका बंगला की देखा देखी कुछ दिनों से हिन्दी में भी चलन बढ़ रहा है।"

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मात्र बाह्य शैली भेद पर ही आलोचना आधारित है। ऊपर के विवेचनों को यदि ध्यान में रखा जाय तो निबन्धों की इस विभिन्न शैलियों का कारण समझने में देर नहीं लगेगी। इसलिए इस विभाजन को मान लेने में कोई अव्यवस्था नहीं आती। विचारात्मक निबन्धों की विषय की प्रधानता का विरोध बराबर किया जाता रहा है। इसे स्वीकार कर लेने पर हमें दर्शन, विज्ञान, आलोचना, आदि सबको अपनी सीमा में ले लेना पड़ेगा। हम नयी तरह से फिर पहले कहे तर्कों

पर विचार न करके यही मान लें कि ऐसे निबन्धों की बहुलता देखकर यदि इन्हें निबन्ध माना जायगा तो आने वाले वर्षों में जो कुछ भी वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक या विवादात्मक लिखा जायगा उसे हमें बाध्य होकर निबन्ध मान ही लेना होगा। यहाँ हम जिस विशेष शैली की विवेचना कर रहे हैं उसकी रक्षा न हो सकेगी और निबन्ध (essay) कहे जाने वाले चार सौ पेज तक की वस्तुओं को भी हमें बिना परीशान हुए स्वीकार करना होगा। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल जब विशाल और गंभीर निबन्धों की आवश्यकता विश्व-विद्यालयों के लिए बताते हैं और उनके अभाव से चिन्तित होते हैं तब उनका मतलब जिन निबन्धों से है वे ये नहीं होंगे। 'चिन्तामणि' के लेखक के लिए तब चिन्ता का विषय उपस्थित हुए बिना न रहेगा। इस पर भी यदि हमें इन्हें निबन्ध मानना ही है तो हम इन्हें 'विशुद्ध निबन्धों' की श्रेणी से थोड़ा अलग ही रखेंगे। विचारात्मक और वर्णनात्मक निबन्धों की एक ही कोटि है। अन्तर केवल भाषा का होता है। इसलिए केवल भावात्मक शैली ही बची। भावात्मक निबन्धों को हम आत्म-पक्ष (subjective) के पास मान लेते हैं तब कहने को बहुत कुछ नहीं बचता। बंगाल की प्रलाप-शैली या तरंग धारा या विक्षेप शैली का कोई शैलीगत विवेचन इसके अतिरिक्त नहीं हो सकता कि यह अन्तर के उद्गारों के ध्वनि-प्रवाहों पर निर्भर करती है। रीड की मन की लहरों का शब्द और वाक्य की लहरों को प्रभावित करने वाली बात यहाँ कही जा सकती है। हिन्दी में यह शैली छायावाद-युग की कविता के साथ कुछ दूर तक चली किन्तु साहित्य की प्रौढ़-अभिव्यक्ति के गुरु-स्वन में इसके प्रमुख लेखकों की ध्वनि उतनी स्पष्ट न हुई। बंगाल के रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के अनुवाद से प्रभावित होकर जो गद्यगीतों की परम्परा हिन्दी में चली उसने कुछ अच्छे

रत्न हमें दिये। श्री रायकृष्णदास, वियोगी हरि आदि ने इस दिशा में अच्छा लिखा पर अधिकांश गद्य-प्रलाप पत्रों के पन्नों में ही खो गये। श्री निराला जी ने अपने निबन्ध-संग्रह 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में जिस 'गदाघर गद्यकाव्य' की हँसी उड़ाई है वह इन्हीं प्रलाप-शैली के नवजात-शिशुओं का परिचय है।

इसी भावात्मक शैली ने प्रौढ़ता प्राप्त की और पूर्णसिंह के निबन्धों का स्वरूप सम्मुख आया। ये निबन्ध यद्यपि प्रधान रूप से भावात्मक ही हैं पर लाक्षणिक शैली और विचारों की तार्किकता का जो विशेषत्व वहाँ आ जुटा है वह इस प्रकार के निबन्धों की सफलता के प्रति आश्वस्त करता है। श्री रघुबीर सिंह की इतिहास-कल्पना भी इसी रास्ते पर रखा हुआ अगला कदम है।

आगे बढ़ने के साथ ही शुक्ल जी के कथनों में का एक शब्द रास्ता रोक लेता है। 'निबन्ध' या गद्य-विधान' में 'गद्य-विधान' समझ में नहीं आया। न जाने क्यों निबन्ध और गद्य विधान के बीच 'या' रख दिया गया है। यदि इसके मानी यह हों कि निबन्ध को हम किसी भी प्रकार के गद्य-विधान की संज्ञा दे सकते हैं तो शुक्ल जी के साथ एक कदम भी मिलाकर नहीं चला जा जकता। गद्य-विधान तो बड़ा अस्पष्ट और असं,लित नामकरण है, इसके साथ 'निबन्ध' की पटरी कैसे बैठ सकेगी। इस शब्द के प्रयोग का और कोई मतलब हो न हो पर इससे शुक्ल जी की आलोचना का क्रम तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिए। इतना स्थूल विवेचन जो प्रारम्भ में हो गया है उसका कारण यही शब्द ही है।

अब हम उनकी आलोचना के दूसरे पहलू पर आते हैं। यहाँ वे पाश्चात्य-लक्षणों की विवेचना करते हुए निबन्ध में निबन्धकार की व्यक्तिगत विशेषता की बात करते हैं। साथ ही मानते हैं कि "बात तो ठीक

है यदि ठीक तरह से समझी जाय।" आगे अपनी शंका उपस्थित करते हैं:-- "व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला ही न रखी जाय पर जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।" यदि अनसधे या तृतीय श्रेणी के लेखकों की शिकायत में ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं तो भविष्य में शैली की विवेचना करते समय हम शुक्ल जी का समर्थन करने चल रहे हैं, किन्तु यदि उनका आरोप शैली पर है तब हमें कुछ विशद नहीं कहना है क्योंकि ऊपर वाला 'गद्य-विधान' यहाँ भी अपना प्रभाव दिखा रहा है। इस प्रकार के निबन्धों के अन्तस् में एक सूक्ष्म धारा ही तो होती है। उसके टूट जाने या तोड़ दिये जाने की यदि शिकायत है तो उसे सभी स्वीकार करेंगे पर यदि किसी अन्य बाह्य उपादानों की विशेष आवश्यकता से मतलब है तो उसकी आवश्यकता यहाँ नहीं समझी जाती। अन्तस् की धारा इतनी शक्तिशालिनी होती है कि निबन्ध का क्रम बिगड़ नहीं पाता। यहाँ मैं शुक्ल जी की "पत्तों के भीतर नसों" वाली उपमा से ही अपना काम चलाऊँगा क्योंकि अगली पंक्तियों में हम वही बात कहने जा रहे हैं जो हमारी अभिलषित है। वे कहते हैं:—तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंधलेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थसम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। ××× इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

ऊपर से देखने में नवीन लगते हुए भी विचार वे ही हैं जो पहले

प्रकट किये गये थे। अभिव्यंजना प्रणाली मात्र का अन्तर मानने के अतिरिक्त वे और सब प्रकार से इसे गद्य-विधान ही कहना चाहते हैं। यदि प्रारम्भ में ही निबन्ध को अपने 'गद्य-विधान' का एक प्रयोग मानकर वे चले होते तो अभिव्यंजना-विशेषत्व की बात और भी स्पष्ट हो जाती। ऐसी स्थिति में यह और इसके पश्चात् की सम्पूर्ण विवेचना 'गद्य विधान' सूत्र के भाष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हो भी नहीं सकती क्योंकि यह तो स्पष्ट ही विरोध (Contradictions) की स्थिति थी। 'चिन्तामणि' की भूमिका में जो मन के साथ बुद्धि भी निकलती रही है वह भी इसी तर्क की स्थापना के कारण। हिन्दी के अन्य आलोचक इसीलिए तो शुक्ल जी को विशुद्ध निबन्धकार की कोटि में रखते हिचकते हैं। जिस सिद्धान्त का प्रमाण शुद्ध नहीं हो सकता उस सिद्धान्त को शुद्ध मानने या मनवाने का आग्रह करने की विशेष आवश्यकता न देखकर इतना ही कहा जाय कि उनका अपना एक प्रतिपादित सिद्धान्त था जो दसपाँच धारणाओं में से एक है। समग्र साहित्य की एक मात्र धारणा का सुनिश्चित मानदण्ड वह है ही नहीं। मैं समझता हूँ कि यह स्वीकार कर लेने पर परीशानी अपसे आप समाप्त हो जायगी।

निबन्ध-शैली की स्थापना और विकास

खलील जिब्रान ने एक पत्थर की आत्मकथा लिखी है । वह रास्ते में पड़ा हुआ था और आने जाने वाले उससे अक्सर टकरा जाते थे, किसी ने दो गालियाँ सुनायीं । किसी ने सोचा अगर अन्धे न होते तो ऐसा क्यों होता और दार्शनिक की सी मुद्रा में चला गया । और इसी प्रकार शाम हो चली । कितने तरह के लोगों ने क्या क्या कहा मुझे नहीं कहना है किन्तु एक आदमी ऐसा भी आया जिसका अंगूठा इतनी जोर से उससे टकराया कि पूरा पत्थर ही रक्त से लाल हो उठा । आदमी के मुँह से शिकायत भी न निकली और पत्थर सिहर कर पड़ा रहा ।

एक ऐसे व्यक्तित्व प्रधान रचनाकार की भी ऐसी ही दशा होती है । वह विषय-निषय के लिए इतना नहीं लेता जितना अपने लिए लेता है । पत्थर की तरह रंग और स्पन्दनहीन पदार्थ को वह अपने हृदय के रंग और स्पन्दन से एक दूसरा ही रूप दे देता है और नए स्वरूप में इसे

वस्तु का प्रतिपादन कहना लेखक के साथ अन्याय करना ही होगा। इसी दिशा में अधिक स्पष्टीकरण के लिए दूसरी उपमा श्री ना० सी० फड़के की ली जा सकती है। वे कहते हैं कि जलाशय के वक्ष पर तैरते काठ की सी स्थिति विषय की होती है और तरंगों की गति के साथ ही उसका विकास और ह्रास भी सीमित है।[१]

इस स्थिति में विषय की अप्रधानता का भिन्न अर्थ लगाया जा सकता है। इसी विषय की गड़बड़ी ने विरोधियों से यह कहलवाया कि यह अपूर्ण और अव्यवस्थित कला है, इसके लिए किसी विशेष प्रतिभा की आवश्यकता नहीं और इसके विकास के अर्थ हैं गम्भीरता और विवेचना को देशनिकाला। किन्तु जैसे ईश्वर को न मानने पर भी सांख्य दर्शन अपनी विचार-सरणि और परम्परा के कारण आस्तिक दर्शन मान लिया गया वैसे ही इसे भी कम से कम एकदम नास्तिक तो नहीं ही कहा जा सकता। प्रिस्टले ने अद्भुत कलात्मक ढंग से बात सुलझाते हुए कहा है कि यदि विषय की बात करोगे तो लो सुनलो कोई भी विषय नहीं है। किन्तु यदि जानना ही चाहते हो तो विश्वास रखो कि दुनिया का कोई भी विषय लिया जा सकता है। लेकिन हमें इसी स्थल पर क्यों बराबर खड़ा किया जाता है जिसे हम स्थल ही नहीं मानते।[१] आगे चलकर वह और स्पष्ट करते हुए

---

१. एखाद्या जलाशयात्या कांठाकर बसून आपण एक लाहानसा दंड त्यांत टाकतों, १ मग जल पृष्ठावरउठणारे तरंग पाहात् रहातों, तद्वत् या आधुनिक निबंधप्रकारांत कोणत्याहि विषयाच्या निमित्तानें लेखकाच्या अंतरंगांत उठणाया विचार विकार तरंगाच दर्शन घडावं।

प्रो० ना० सी० फडके० नवेंलेणें०

कहता है कि ऐसे भी विषय पर लिखा जा सकता है जिसे वह एक दम न जानता हो। यहाँ वह केवल अपनी अज्ञानता ही पर विचार करेगा। और उसका काम खतम हो जायगा। श्री फक्के ने भी अपनी विवेचना में ऐसे उदाहरण देते हुए यही कहा है।

इसलिए ऐसे निबन्धों की आलोचना हम उसी क्रम से नहीं कर सकते जिससे पिछले निबन्धों की करते रहे हैं। इन्हें देखने के लिए हमें सब संस्कार पीछे छोड़कर स्वयं इन्हीं से परिचय करना होगा। आलोचक के लिए यहाँ अलग बनी बनायी भूमि पर खड़ा होना मुश्किल हो रहा है और यदि किसी भी प्रकार आलोचना की भी जा रही है तो वह किसी स्वरूप को अपने मानदंड में पूरा का पूरा समेट भी नहीं पा रही है। विषयों की विभिन्नता के साथ मानदंडों की भी संवेदनशीलता और लचीलेपन का ध्यान रखा होगा। अतः पहले हमें देखना है कि किस प्रकार सोचने और निर्माण के प्रश्न पर विरोध उपस्थित हो गया है।

शैली की दृष्टि से पुराने महाकाव्यों और प्रबन्धों की विशाल पटभूमि और ऐसे निबन्धों की छोटी पीठिका में इतना अन्तर पड़ जाता है कि कला

---

1. But the real essayist has no subject, or if you will, has every subject in the world at his command, for the simple reason his business is to talk about himself or to express the relations between any subject and himself.

(J B. Priestly, "Essayist Past & Present").

के सभी पिछले अभिव्यंजना के माध्यम बेकार हो जाते हैं। बड़े पटों पर चित्र बनाने के लिए जहाँ चटकीले रंग, बड़ी कूचियो और बड़े आधार की (Stand) आवश्यकता होती है वहाँ यहाँ 'पेन्सिल स्केच' की भाँति छिट-फुट खींची गयी रेखाओं में उभर आती मनकी लहरों के लिए केवल एक पेन्सिल और किसी भी स्थान पर बैठने के लिए एक कोना चाहिए। यहाँ तुलसी के "जहाँ काम आवे सुई कहा करै तलवारि" की सी स्थिति में रचनाकार रहता है। अन्य विधानों के ढाँचे में तो स्वयं उसका निजका कथन हलका पड़ जाता है और भव्यता ही पूरा ध्यान बँटा लेती है। जैसे राधाकृष्ण की मूर्ति को भूल कर लोग मथुरा के विशाल मंदिरों को देखने लगते हैं और विश्वनाथ मन्दिर में सोने का कलश देखते-देखते विभोर हो जाते हैं। परिशिष्ट भाग में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि विशाल पटों के पीछे विशाल परम्परा का जुलूस भी रहता है, श्री चेस्टरटन ने अपनी "आत्मकथा" में विक्टोरिया-युग की निश्चिंतता और डिसरैली के साम्राज्यवाद को ही उस युग के साहित्य की निश्चिन्तता का मूल तत्व माना है। प्रत्येक वस्तु ठीक है (Everything is well with us) की भावना का विरोध करते हुए उसने अपनी दृष्टि बहुत ही स्पष्ट शब्दों में घोषित की है[1]। उसने कहा कि व्यक्ति के भीतर के उद्वेग

---

1 At the back of our brains, so to speak, there was a forgotten blaze or burst—at our own existence. The object of the artistic life was to dig for this submerged sunrise of wonder so that a man sitting in a chair might suddenly understand that he was actually alive and happy.

(G. K. Chesterton, 'Autobiography'.)

की लपट ही मार दी गयी है। उसे पता ही नहीं कि कहीं उसमें यह जिज्ञासा की संजीवनी भी है। आज की कला का सबसे बड़ा धर्म यही होगा कि वह आश्चर्य के इस प्रकाश स्रोत का उद्घाटन करे। वह आश्चर्य प्रभात की भाँति उसी के सामने अन्धकार फाड़कर उठे और व्यक्ति इस विश्वास से झूमकर खिल उठे कि उसमें भी जीवन है, उसमें भी आनन्द है।

यही आनन्द ही इस प्रकार की कला का सबसे बड़ा प्रतिपाद्य है और इसे देकर ही वह सफला कही जा सकती है। चेस्टरटन को विश्वास है कि जो कुछ उसने दिया वह नया था पर उचित था।

प्रेमचन्द्र जी एक कांग्रेस पंडाल में भीड़ में से उठकर जा रहे थे जब एक स्वयंसेवक ने टोंककर पूछा कि आप यहाँ क्यों बैठे हैं? प्रेमचन्द्र ने मुसकराते हुए उत्तर दिया था कि भाई बैठने ही का महत्व तो होता है, जहाँ हम बैठेंगे वहीं से न देखेंगे। उन्होंने बात बहुत साफ कर दी थी। वे कलाकार के स्थान को समझते थे और इसी से जिंदगी भर उन्होंने स्थान खोजकर बैठने में गलती न की। स्वयं चेस्टरटन ने यही दृष्टि का विरोध स्पष्ट किया है। वे उस बड़े साम्राज्य से प्रभावित नहीं होते जहाँ सूर्यास्त ही नहीं होता। वह तो एक सूक्ष्म छेद में से देखे पहलदार शीशे के नाना रंगों में बदलते और बनाते छोटे सूर्यास्त को देखकर ही रोमांचित हो उठते हैं।

यहाँ तक आकर बिना किसी सन्देह के कहा जा सकता है कि विशाल सूर्यास्त के तरल रंग की प्रवाहित लहरों के सामने आत्मा के छोटे सूर्यास्त की स्थापना की गई।[1]

1. I was not overwhelmed in childhood, by being told of remote stars which the sun never reached, any

किंतु छोटा सूर्यास्त केवल स्वरूप में ही छोटा था । उसका अपना जीवन दर्शन का क्षेत्र कितना गहरा था इसकी कल्पना नहीं की जा सकती विरजीनिया वूल्फ ने मान्टेन पर लिखते हुए इस व्यापार की तुलना 'रिलीजिओ मेडिसी' ऐसे रंगीले शीशे से की है जिसमें से दौडते तारों की तरह नवीन और छटपटाती आत्मा का दर्शन किया जा सकता है।[1] मान्टेन ने स्वयं ही इन निबंधों को आत्मा का संवाहक कहा था[2] और वह पूरा विश्वासी था कि आत्मा अपने प्रत्येक गुण धर्म के साथ यदि कहीं चरितार्थ होती है तो यहीं ।

और इस आत्मा के निर्माणात्मक पक्ष की स्थिति भी साफ है । वह प्रत्येक वस्तु को देखने के पहिले अपने को ही देखती है और एक प्रतिबिम्ब सा छोड़कर अलग हो जाती है । फिर रचनाकार एक विशेष प्रकार

---

more than in manhood by being told of an empire on which the sun never sets. I have no use for an empire that had no sunsets. I was inspired and thrilled by looking through a little hole at a crystal like a pins bead ; and seeing it change pattern and colour like a pigmy sunset.

(Chesterton, "Autobiography")

1. The 'Religio Madici' is a coloured glass through darkly one sees racing stars and strange and turbulent soul.

(Wirginia Wolfe)

2. These essays are an attempt to communicate a soul (Montaigne).

की मनस्थिति में जो सोचने लगता है उसका उत्स भी भीतर से ही है। यही चिन्तन चारों ओर रुपहले तारों सा जाल फैलाता चला जाता है। इसी वस्तु को स्मिथ ने बड़े ही साफ ढंग से कहा है कि 'निबंध अपने साहित्यिक स्वरूप की दृष्टि के गीतिकाव्य से मिलता है। इसके मूल में भी कोई न कोई मनस्थिति कार्य करती ही है चाहे वह प्रक्षेप, गम्भीर या व्यंगात्मक किसी भी प्रकार की हो। पहले मनस्थिति को स्वरूप दीजिये फिर निबन्ध तो उसे चारों ओर रेशम की तरह घेर लेगा। आत्मकथा की इस परम्परा के औचित्य और अनौचित्य पर एक हलका विचार करके हम देखेंगे कि साहित्य में कहाँ तक व्यक्ति की बात स्वीकृत की जा सकती है।' पक्ष में तर्क देते हुए मान्टेन ने कहा है कि उसी के बारे में लिखना चाहिए जिसे पूरी तरह जानता हो। मैं तो अपने पर ही लिखता हूँ। क्यों कि मैं सबसे अधिक अपने ही को जानता हूँ।'[२]

इसी कारण एक आरोप लेखक पर लगाया जाता है कि वह 'अहं' का प्रचारक है। (Egolislical) 'अहं' को मान्यता देते हुए लैम्ब ने कहा है ऐसे निबन्धों की स्पष्ट रूपरेखा इनकी 'अहं' की प्रवृत्ति है।

---

1. The essay he says, 'as a literary form resembles the lyric, in so far as it is moulded by some central mood—whimscical serius or satirical. Give the mood and essay from the first sentence to the last goes around it, as the cocoon grows around the' silkworm',

(Smith, 'The English essay and essayist').

2. I am the subject of my essays because I my self am the only person whom I know thoroughly.

(Montaigne).

एक-एक करके सभी विचारकों ने इस आरोप का खंडन करते हुए घोषणा की है कि यह तत्व तो ऐसी रचना का प्राण है और इसका निर्णय कभी रूढ़ि के नाम पर नहीं ही किया जा सकता और जो भी हो। रीड ने कहा है कि लेखक को इस आरोप पर संकुचित नहीं होना चाहिए। जब वह जानता है वह यही कर रहा है तब फिर दृढ़ता से उसे स्वीकार भी करे। ह्यूज वाकर, काउच आदि सभी ने एक स्वर से इसकी आवश्यकता समझी है और कहा है कि लेखक हथेली पर आग लिए है अवश्य किन्तु यह नहीं देखते कि वह न तो उसे जला रही है और न तुम्हें ही, फिर भी वह आग भी बनी हुई है।

निबन्धकार और पाठक

इन दोनों के सम्बन्ध की गुरुता के विषय में हम शैली के विवेचन में उल्लेख कर आये हैं। अब आवश्यक है कि दोनों के सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार किया जाय।

मान्टेन मानता है कि मैं जिस भी व्यक्ति से मिलता हूँ उससे बात करना प्रारम्भ कर देता हूँ[1]। वस्तुतः रचनाकार और पाठक का जितना सामीप्य इस प्रकार की रचना में होता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। श्री सियारामशरण जी को अपने बन्धुजनों को ही धन्यवाद देना पड़ा क्योंकि वे चाहे जहाँ भी हों देखते ही यह पहचान लेंगे। इसके लिए रचनाकार को संभाषण की शैली में पारंगत होना होगा। यह एक प्रकार की घरेलू

1. I speak unto paper on to the first man I meet as a kind of Autobiograhhy—(Montaigne)

वार्ता का रूप ही ग्रहण करेगी ऐसा प्रीस्टले भी मानता है[1] । जहाँ रचनाकार का एक-एक शब्द उसके व्यक्तित्व की छाप लिए हो। सबसे मुख्य वस्तु यह है कि इस प्रकार के निबन्धों को रीडने 'ओपेन लेटर' खुलापत्र ही कहा जिसमें से सम्बोधन और अपना नाम हटा लिया गया है। यह क्या नहीं सिद्ध करता कि पाठक लेखक के कितने पास हैं। नवीन निबन्धलेखक श्री प्रभाकर माचवे कहते हैं कि मैं तो बराबर पाठक की आँखों को अपनी ओर घूरते देखता हूँ। इसलिए साहित्य में किसी ऐसी मुद्रा में नहीं उपस्थित होता जिससे सामाजिकता के नियम भंग होते हों। हम जो कुछ भी लिखते है सामने देखकर लिखते है और जहाँ इसे भूले कि सामने कोई हो इससे क्या, वहीं कला एक ओर को झुकती है और सारा का सारा ढाँचा बिगड़कर रह जाता है। प्रीस्टले ने रूस के दौरे में देखा कि उसके स्वागत के लिए इतनी जनता इकट्ठी हुई थी जितनी इंग्लैंड आदि में घुड़दौड़ या मैच में आती है। उसने वहीं कहा कि जहाँ इतनी आँखें घूर रही हों लेखक इनकी उपेक्षा कैसे कर सकता है।

यूलिसिस का धनुष

कहने में जितना अच्छा लगता है उतना रचना करने में भी होता तो रचना का यह प्रकार सम्भवतः इतनी ख्याति न पाता। यूरोप में बराबर जो इसे "यूलिसिस" का दुर्धर्ष धनुष कहा गया उसका कुछ कारण भी

---

1. The true essay approximates to familiar talk, and the essayist is the brilliant and self-revealing conversationalist, whose every frase is salted with personality.

(Priestly. 'English Past and Present')

था। स्वयं मान्टेन ने एकबार एक चित्र को देखकर कहा था कि जैसे और चित्रों को बनाना वैधानिक समझा जाता है वैसे ही अपने आप का चित्र बनाना वैधानिक क्यों नहीं माना जाता, किन्तु साथ ही उसे भान हुआ कि काम जितना देखने में सरल है उतना करने में तो नहीं ही होगा। वैसी हालत में कलम हाथ से गिर जाती है और लगता है कि यह काम भयंकर परेशानियों से भरा है। विरजीनिया वूल्फ ने शंका प्रकट करते हुए कहा है कि "सिवा रूसो" पेपी और मान्टेन को छोड़कर कौन सफल हुआ? एक चिन्तना का प्रादुर्भाव मन में होता है। पर ऐसा लगता है कि वह प्रकाश बराबर घूमने वाला है और कोने में प्रकाश डालकर सावधान होने के पहिले ही वहाँ से हट जाता है। उस छवि को बाँध रखना कुछ साधारण काम नहीं।

और यह आत्मा का कहना मानना तो सबसे परेशानी का कार्य है। आत्मा जो कुछ भी कहती है वह अक्सर जमाने का उलटा होता है, इसलिए उसकी बात मानना खतरनाक है ही। दूसरी ओर कलम कुछ कम अधिनायक (डिक्टेटोरियल) नहीं है। इन दो विरोधी रेखाओं के बीच मध्यम मार्ग ग्रहण करना भयंकर कार्य है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है" अक्सर देखा जाता है कि एक ही तरह से बार-बार गुदगुदाने से भी हँसी आनी बन्द हो जाती है और एक ही संगीत बार बार सामने आने पर अपनी बेधकता खो देता है। वैविध्य का तथा सम्पादन का ज्ञान ऐसे लेखक के लिए आवश्यक होता है। "आत्मा" और "अहं" दोनों विरोधाभासों से भरे जीवित और गत्यात्मक तत्व होते हैं। इन्हें यदि उपयुक्त आधार न मिला तो ये पूरी शैली को खंडहर बनाकर स्वयं भी चूर-

चूर हो जायेंगे। आत्मा तड़फड़ाने वाली चीज है। अहं तलवार सा तीखा होता है। यदि इसे सँभाल कर न चलाया गया तो अपनी स्थिति भी सन्देहास्पद हो उठती है। इसका सन्तुलन बताते हुए रीड ने कहा कि 'अहं' यद्यपि साहित्य के लिए आवश्यक है किन्तु स्वयं वही सबसे खतरनाक भी है। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि सन्तुलन बनाए रखा जाय।[१] कैसे आप स्वयं को रखते हैं यही देखने की वस्तु है और इस दशा में मिली सफलता ही शैली की सफलता है।[२]

स्वरूप-विधान

अब एक ही वस्तु बच रहती है कि इन गुणों को अपने में सुगन्ध की तरह बसाते हुए निबन्ध स्वरूप (forms) कौन सा ग्रहण करता है जिसमें इतना विस्तृत होने फैलने की भी शक्ति हो कि वह आत्मा के संकोच और फैलाव के साथ स्वयं घटबढ़ कर साथ ही रहे यहाँ 'मार्कण्डेय' मुनि और 'मीन' का ध्यान आता है। जिस आधार में वे उसे रखते थे, वही दूसरे दिन छोटा हो जाता था और नये आधार खोजने पड़ते थे। मुनि अन्त तक उसे सँभालते गये और तब संकोच की स्थिति आई। मीन का ही आदेश हुआ कि वही नाव पर सृष्टि को बीज रूप में बचाकर तैयार हो जाओ। मुनि ने यह भी किया। लेखक का

1. That self which while it is essential to literature is also its most dangerous antagonist, never to be yourself and yet always that is the problem.

(Herbert Reed, 'English Prose Style').

2. The triumph is the triumph of the style.

'English Prose Style.'

कर्तव्य भी ऐसा ही है। कहीं वह एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न कोणों से देखता चारों ओर घूमता रह जाता है और कहीं अगर शीघ्रता से न दौड़े तो गति हीनता (dullness) आ जाने का डर रहता है। उसके साथ ही पाठक का आकर्षण बनाए रखना है।

साथ ही सबसे बड़ी चिन्ता होती है अभिव्यंजना की। किसी भी नयी और सूक्ष्म वस्तु को कहने के लिए लेखक को कितना परिश्रम करना होता है यह तो नवीन शैली के आविष्कारक ही जानते हैं। और यह सब कहना होता है एक ऐसे ढंग से कि शैली का अछूतापन भी सिद्ध हो। साधारण अक्षरों पर भार बहुत बढ़ जाता है। शैली ऐसी हो जानी चाहिए कि उसमें वह भी आ जाय जो न तो मुद्रा से कहा जा सके और न वाणी से। जार्ज बर्नार्ड शा ने एक बार कहा था कि अभी गद्य का पूरा विकास कहाँ हुआ? जब गद्य कहते या लिखते समय हाथ उठाने, मुद्रा बनाने और चीखने चिल्लाने की जरूरत न रह जाय और ये सब काम अधिक प्रभावशाली रूप में हमारे एक वाक्य करने लगें तब सोचूँगा कि अभी सफलता कितनी दूर है। प्रीस्टले ने भी यही कहा है। व्यक्ति पूर्णतः पीछे ही रह जाता है और उसका सारा काम ठंडे छापे के अक्षरों को करना पड़ता है।[1]

---

1. 'Printed words' do the work of 'spoken words', infletions of the voice, the gesture, the very physical presence, the talker himself, his face lighting up or clouding over as he passes from one mood to another, all these are lost and cold print has to take their place-he is to write more himself in print than he is in his own person and talk.

(J. B. Priestly, 'English Past and Present').

यही 'विशेषत्व' प्राचीन रसशास्त्र तथा शब्द शक्ति का मुख्य विषय रहा है। सीधे-सीधे कह देने के अर्थ होते हैं कुछ नहीं कहा गया। आदि युग से मानव बराबर इसी प्रयत्न में लगा रहा है और इतनी सफलता पाकर भी अभी जैसे कुछ भी नहीं मिला है। अपने को और अपनी कल्पना को साहित्य में रखने के क्रम में सबसे विशेष जो एक वस्तु आती है वह है

नये मुहावरे का प्रयोग

जिसके बिना कभी भी अभिव्यंजना मे सफलता नहीं मिल सकती। शब्दों को अपने ढंग से एक साथ रखकर उसका अपने अनुसार अर्थ करने की प्रवृत्ति सब कहीं देखी जा सकती है। स्टीवेन्सन ऐसे प्रयोगों का बादशाह कहा जाता है और चूंकि चेस्टरटन में कविता की मात्रा अधिक है इसलिये उसकी शैली में उपमानो का बाहुल्य होता है। 'ए प्ली फार दी गैस लैम्प' नामक अपने निबंध में स्टीवेन्सन ने ऐसे प्रयोगों का अद्भुत सामंजस्य किया है। हाथ में उठाकर जिन बड़े बड़े दीपाधारों को लेकर प्राचीन समय में लोग सड़कों पर लेकर चलते थे उन्हें उसने "आवारे" प्रकाशस्तंभ का वैगाबान्ड फेरोस कहा, "फेरोस" फेरो दीप पर बना पहला प्रकाश स्तम्भ था जिसकी संज्ञा ही जाति वाचक बन गयी। चूंकि यह प्रकाश के आधार चलते फिरते रहते थे इसलिए उन्हें "आवारा" सम्बोधित किया। हवा के 'बदमाश आवारा लड़के' 'अरचिन्स आफ दी विन्ड' में भी यही रूप विद्यमान है। चेस्टरटन के 'पिगमी सनसेट' का भी यही स्वरूप है। यह बात यही तक नहीं रुकती। पूरे के पूरे वाक्य तथा पैराग्राफ इसी जैसे नये प्रयोगों से भरे रहते हैं। श्री गुलाब राय जी इसका काम अक्सर पुराने कथनों को अपने अनुसार बदल कर ले लिया करते हैं।

किन्तु यह आवश्यक नहीं होता कि छिटफुट गढ़े गये इन प्रतीकों के रखने में किसी व्यवस्था की आवश्यकता भी हो। साथ ही इनका अनुवाद भी नहीं हो सकता और अगर होगा भी तो आत्मा की प्राण प्रतिष्ठा वहाँ नहीं हो सकती। कारण इसका यही होता है कि उनके पीछे वहाँ के समाज और साहित्य की परिपक्वावास्था का ज्ञान भी होता है। दूसरे के लिए उन्हें वैसे ही ले लेना असम्भव होना है। साथ ही उनकी व्याख्या भी मुश्किल होती है।[1] दूसरी ओर पाठकों के पास पहुँचने के रूप में लेखक

व्यंग और हास्य

को भी साथ लेता चलता है। इस प्रकार के निबन्धों का यह सबसे उज्ज्वल पक्ष होता है किन्तु इसका सन्तुलित निर्वाह भी आवश्यक होता है। पूर्वकथित गम्भीरता और कविता के साथ इसे ऐसा रखना होता है कि वाणी की शक्ति बढ़े न कि पहले का बनाबनाया ही ढह पड़े[2]। यह सब

---

1. A personal stylo may be clear and concrete but it is not ordered. The imagas though hard and distinct, are hapahagard. They form a picturesque ruin—we may call them the idioms of the writer—(these are) personal to writers, self, and can not be copied or assimilated by another writers, (and, they are) difficult to analyse.

2. The dominent force is often a denial of passion, a determined effort to avoid any thing direct or down write (Herbert Reed)

क्रियात्मक शक्ति बने इसका ध्यान रखना है । इसका सम्बन्ध मनुष्य की उदात्त वृत्तियों से होता है और स्पष्ट ही यह पहले कहे गये मुहावरों से थोड़ी अलग चीज है। जानसन का निर्णय इसपर उचित था और स्वयं उसने इसका प्रयोग भी किया, किन्तु यहाँ उदात्त वृत्ति को विशेष शाब्दिक अर्थ में नहीं लेना चाहिए। मनुष्य में प्रधान हो गयी शक्ति में ऐसा भी होता है कि उदात्तता का स्वरूप न हो और गत्यात्मकता तथा रचनात्मिकता शक्ति पूर्ण रूप से आ गयी हो। भारतीय रस परम्परा में तो हमेशा इस प्रकार की सीमा लाँघती उदात्तता को 'रसाभास' की सीमा में रखा गया है। हिन्दी में हास्य रस का कोई स्तर न होते हुए भी जहाँ-जहाँ ऐसे व्यक्तित्व प्रधान स्थलों पर यह आया है काफी सन्तुलित रहा है।

निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' 'कुल्लीभाट' श्री गुलाब राय की 'मेरी असफलताएं' सियाराम शरण गुप्त का 'झूठ सच' हजारीप्रसाद जी के 'विचार और वितर्क तथा अशोक के फूल' के निबन्ध इस बात के प्रतीक हैं कि व्यंग और हास्य की एक अजेय शक्ति होती है जो बनाने पर बन सकती है पर अक्सर लोग उसका उपयोग सीधी मार में करते हैं।

शैली के पहाड़ी नदी के प्रवाह के साथ पुष्कर सी संयत शैली के भिन्न प्रयोग भी इन निबन्धों में प्रयुक्त होते हम देखते हैं। यद्यपि कुछ लोगों के विचार से केवल 'व्यक्तित्व प्रधान शैली (personal style) कहना ही काफी होगा पर हर्बर्ट रीड ने इसमें विभेद किया है। 'गति-शीलता' और 'मनोरमता' इस प्रकार की शैली के प्रधान गुण हैं, पूरी तरह तेल दिये हुए इंजन की सी दशा में प्रारम्भ से अन्त तक शैली में एक रसता रहनी ही चाहिए जहाँ शब्द सधे हुए सैनिकों से अपनी जगह लेते चलें। यह क्रम ठीक वैसा ही होता है जैसे बोतल में से कोई वस्तु एक एक कर निकले किन्तु बाहर आकर फिर व्यवस्थित हो जाय,. लेखक

की स्थिति इसी बोतल की सी होती है जिसका गला इतना सँकरा है कि एक बार में एक ही शब्द बाहर आता है, किन्तु बाहर का क्रम भंग न होना चाहिए। इस 'आपस की बातचीत' में कहीं भी यदि आपने बड़ी बड़ी बातों के लिए मुँह खोला या उपदेश की मुद्रा में आप आये तो शैली की वही दशा होगी जैसे भेड़ों के झुंड में भेड़िया आ जाय। परिणाम होगा कि वह सब कुछ चौपट करके स्वयं भी हाफता पुच्छलतारे सा दिशा-हीन हो जायगा। इस जरा सी वस्तु से पूरी मशीन ही हाथ के बाहर हो सकती है।

उद्धरण बहुलता

ऐसी स्थिति में सफल शैलीकार निश्चित ही अभिव्यञ्जना के 'व्याघ्र' को 'गोमुख' करने की कला में पंडित होंगे नहीं तो भेद खुल जाने पर सिंह की खाल ओढ़े गदहे सी उनकी शैली रेंकती ही रह जायगी। इस दिशा में उन प्रयत्नों की ओर देखना है जिनके कारण एक नयी धारणा का विकास हुआ। एक ऐसा निबन्धकार पूरे रास्ते उद्धरणों के कटे फटे अंश प्रस्तुत करता चलता है और उसे इतना विश्वास होता है कि पाठक कम से कम इतना संस्कारशील तो अवश्य ही होगा कि वह एक शब्द देखकर पूरा दृश्य-विधान समझ जाय। इसी कारण ऐसा लगता है कि वह अपने को प्रारम्भ करने वाला नहीं मानता। उसका स्थान कवि और इतिहासकार के बाद आता है। वह इसी विश्वास से उन्हीं की बातें दोहराता धीरे-धीरे निबन्ध समाप्त कर देता है। इसलिए ऐसी शैली उद्धरणों से भरी होती है[1]। आज के भारतीय निबन्धकार की नसों में

---

1. It is essential for him that book should have been written, and that they should, at least to some extent

जितनी परम्परा धड़कती दौड़ रही है वह शैली में भी उतरती है। इसलिए हम क्यों न माने कि पूरी भारतीय साहित्य परम्परा की प्रतिनिधि बनकर ही ये पंक्तियाँ सामने आती है। आवश्यकता है उन्हें ग्रहण करने वाले की। जब इलियट इस परम्परा की 'मशाल' को इतिहास की गलियों में बदलते देखता है और मानता है कि यूरोप का पूरा साहित्य आज के रचनाकार के व्यक्तित्व के साथ घुला-मिला रहता है तो हम क्यों न देखें कि निबन्ध के कलेवर में प्रयुक्त पुराने साहित्य के टुकड़ों में तब का पूरा वातावरण चित्रित हो उठा है। 'शोकश्लोक' कहते ही 'सीता और वाल्मीकि' पूरे अपने वातावरण के साथ आ उपस्थित होते हैं और 'प्रहत मुरजा' कहने से जैसे शत शत मृदंगों की गमक कानों में गूंज उठती है। रस की जिस स्थिति तक पाठक केवल इन्हें सुनकर पहुँच जाता है उस तक पहुँचाने में आधुनिक कला और साहित्य को एड़ी का पसीना चोटी पहुँचाना होगा और तब भी कुछ रसास्वाद होगा इसकी शंका रहेगी ही।

प्रकार और समाहार

निबन्ध के रचनाक्रम को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। बहिरंग और अन्तरंग प्रकारों का सूत्रवत् समाहार यहाँ होगा।

बहिरंग

१. प्रारम्भ परिचित भूमि पर किया जाय।

---

have been read and digested, he is usually full of references, and these his reader must be able to understand and follow.

(Hugh Walker. The English Essay & Essayist).

ऐसे जैसे हम आप कभी के परिचित रहे हैं और वह स्थल जहाँ की बात हो रही है वह भी ऐसा कुछ नया नहीं, रोज का जाना सुना है ऐसा लगे।

२. परस्पर विरोधी और विचित्र सी लगती प्रतिपाद्य वस्तु को लेकर सामने आना।

जैसे मराठी के एक निबन्ध का विषय है 'लारेटा यंग आणि विवेकानन्द।' एक सिनेमा अभिनेत्री और एक सन्त की क्या तुलना पर यही हुआ है और वह बड़ी ही सफल रचना मानी गयी है।

३. वस्तु का विकास साधारण अनुभवों के आधार पर धीरे-धीरे किया जाय।

यह इस प्रकार के निबन्ध का सबसे विशेष गुण है। अक्सर पिछली घटनाओं, बातचीतों तथा अनुभवों का हवाला देते हुए विषय का विकास करना गार्डिनर की खास विशेषता है। हिन्दी में श्री बालमुकुन्द गुप्त और श्री हजारीप्रसाद जी ऐसा अधिक करते हैं।

४. वस्तु को छोटी आख्यायिकाओं, पुरानी किंवदंतियों तथा पुराण की गाथाओं के उदाहरण से रंजित करना।

'लैम्ब' में ऐसे उद्धरण बहुत आते हैं और इसका परिणाम होता है स्थानिक प्रभाव (local colour) में वृद्धि। सियारामशरण जी बड़े ही मनोरम ढंग से इसके द्वारा वातावरण उपस्थित कर देते हैं।

अंतरंग

१. जीवन दर्शन के प्रकाश में ही विश्वभर की वस्तुओं को देखने की बात पर पहले का विवेचन आधारित है। बिना इसके कुछ लिखना कम से कम आज के युग में तो असम्भव है। 'डी. एच. लारेन्स' और

विरजीनिया उल्फ की 'दर्शन धारा' का उल्लेख भी एक पीढ़ी पहले होता था। उनकी रचनाएँ इसी कारण एक ही वस्तु का प्रतिपादन हो गयी हैं। इसी दर्शन के कारण निबन्ध छिटफुट होते हुए भी एक धारा में प्रवाहित होते हैं। इसी को चरितार्थ करने के लिए अपने प्रकटीकरण के भिन्न-भिन्न आलम्बन ग्रहण किए जा सकते हैं।

इन दोनों तत्वों का सम्मिलित परिपालन बहुत कुछ रचनाकार की शक्ति पर निर्भर करता है। उसकी ही विशेषता से 'जीवन दर्शन' व्यक्तिगत से समष्टिगत बनता है। उसकी 'आत्मा की शक्ति' इसके लिए आवश्यक है पर साथ ही उसके पास कुछ मुख्य गुण और होने चाहिए। उनका वर्गीकरण हम हलके रूप में इस प्रकार कर सकते हैं:

१. उसमें ऐसी निर्णायिका बुद्धि हो कि वह रचना की साफ योजना की रेखा बनाए और उस पर दृढ़ रहे क्योंकि कहानियों, उद्धरणों, आदि के बीच उसके लुप्त हो जाने का डर बराबर बना ही रहता है।

२. निर्णयतक पहुँचने की दिशा में उसके प्रतिपादन की भिन्न-भिन्न शैलियों में पूरी एकता रहे। बिना इसके प्रकाश छितरा जायगा और ठीक स्थलपर प्रकाश पड़ना असम्भव हो जायगा। एक 'टार्च' के 'फोकस' को एक स्थानपर केन्द्रित करने के प्रयत्न जैसा यह होगा।

३. दर्शन और ग्रहण में 'लाघव' होना चाहिए। निगाह ऐसी हो कि सुई भी देख ले और उठा ले। बिना इस शक्ति के कला के जोड़ फटी हुई दीवार से अलग ही रहेंगे।

५. निष्कर्ष भी इन्हीं उदाहरणों से ही निकालना।

श्री सियारामशरण जी ने 'मिट्टी के हाथी' में चींटी की आत्मा

की तुलना साहित्य में स्वयं कवि के जीवन से की है। और एक निष्कर्ष सामने रखा है।

६. यद्यपि मान्टेन उपदेश, आदर्श कथन के पक्ष में नहीं है फिर भी गार्डिनर अक्सर रास्ता चलते चलते गम्भीर हो जाता है। हिन्दी के प्रारम्भिक लेखकों में ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है। श्री बालकृष्ण भट्ट और राधाचरण गोस्वामी ऐसा करते दीखते हैं।

७. 'शीर्षक' ही ऐसे लेखों का प्राण होता है इसलिए इसके लगाने की कठिनाई भी सामने आती है। गार्डिनर ने तो लिखा है कि 'यह काम मैं अपने मित्रों पर छोड़ देता हूँ।' शेक्सपीयर को नाटकों के लिखने में उतनी परीशानी न हुई होगी जितनी शीर्षक लगाने में हुई होगी। इसीलिए तो उसने एक नाटक का नाम 'जैसा तुम चाहो' (As you like it) रखकर पिंड छुड़ाया।

श्री सियाराम शरण गुप्त ने इसका सम्बन्ध रचना की आत्मा से जोड़ा है।

'रचना करना तो इतना सरल होता है' जैसे किसी हलवाई की दूकान पर बैठकर मन चाहा भोजन करना। जिस पदार्थ की इच्छा हुई अनायास मिल गया। पर अनायास न मिलने वाली वस्तु का नम्बर आता है सबसे अन्त में। देने भर को पैसा जेब में नहीं रहता है तब व्यक्तित्व या साख के बलपर किसी तरह दूकानदार का मन भर दिया जाता है किन्तु वे व्यंजन विद्रोह की आवाज उठाते है। हम सन्तुष्ट नहीं, हमारे हिसाब का खाता पूरा-पूरा नहीं चुकता किया जा सका।

यहाँ तक रचना के वहिरंग का विवेचन हुआ। उसकी अंतरंग शक्तियों का मूल विवेचन रचना के जीवन दर्शन का ही विवेचन होगा।

४. अनुभूति और संवेदनीयता इतनी अधिक हो कि ग्रहण करते ही कल्पना के चित्रों की लाइन दौड़ने लगे। इसीलिए (Vision) 'मन के आलोक' की यहाँ आवश्यकता होती है।

इस प्रकार हम विवेचना की आखिरी मंजिल पर पहुच गये हैं जहाँ सब कुछ स्पष्ट है और रचनाकार, पाठक, रचना और आलोचक एक साथ एक गोष्ठी में बैठे दीखते हैं। अगले पृष्ठों में इसके प्रयोग की भूमि का दर्शन हमारा अभीष्ट होगा।

अंग्रेजी साहित्य में निबन्धों का विकास

इंगलिश साहित्य में यह व्यक्तित्वप्रधान शैली इतनी विकसित और मान्य हो गयी है कि व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध ही साधारण निबन्ध (Proper Essay) का प्रतिनिधित्व करने लगे हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ है उसको तो प्रीस्टले निबन्ध ही नहीं मानने को प्रस्तुत हैं।

इंगलिश लेखक निबन्ध का अस्तित्व ही व्यक्ति की अभिव्यक्ति के लिए मानते हैं और इस दशा में वे इस विशेषता से रहित विचार दर्शन तथा सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए लिखे गये लेख को निबन्ध की कोटि में नहीं मानते। सोलहवीं सदी के अन्त और १७ वीं के तीन चतुर्थकों तक इस सम्बन्ध में विवाद होता रहा किन्तु निबन्ध की वर्तमान परिभाषा में मान्टेन के व्यक्तित्व ने निर्णयात्मक कार्य किया। प्रसिद्ध व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध लेखक लुकस ने स्पष्ट ही कह दिया कि पिछले कैड़े के लेखकों में वस्तुतः सभी विशेषताएँ थीं किन्तु वे व्यक्तिगत भावनाओं से युक्त नहीं थे[1]।

---

1. But all these authors were impersonal. They suppressed themselves. We have no evidence as to whe-

रीड ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यह रूप इतना पुराना है जितना कोई भी हो सकता है। यह एक प्रकार का निर्वैयक्तिक पत्र लेखन है, एक ऐसा खुला पत्र इसे हम कह सकते हैं जिसमें किसी एक व्यक्ति को सम्बोधित करने की आवश्यकता नहीं दीखती। किन्तु इनकी दुनिया में-- खास तौर से इंगलैण्ड में यह एक नई शैली के रूप में विकसित हुआ। यद्यपि इसकी निश्चितसीमा नहीं कही जा सकती किन्तु पिछली कुछ सदियों में इसका विकास हुआ है। यह शैली पत्रों के अधिक उपयुक्त हुई और १८ वीं शती के प्रारम्भ में इसका विकास हुआ। एडीसन, स्टील, गोल्ड-स्मिथ आदि के हाथों में मजता हुआ आज यह काफी विस्तृत स्पष्ट और हलकी-फुलकी हो गयी है। एक नोटबुक का ढांचा पीछे छूट गया है और यह वस्तु काफ़ी आनन्द-दायक हो गयी है।

इस सम्बन्ध में उसने और भी कई नाम लिये। गोल्डस्मिथ और एडिसन तक को उसने इस वर्ग से अलग कर दिया था। उसको ऐसा करने का ऐतिहासिक कारण भी मिल गया था। उसके इनकार करने का यह ऐतिहासिक कारण काफी मजबूत है और इंगलैण्ड की स्थिति में उसकी संगति भी बैठ जाती है।

उसने इसका प्रारम्भ १८ वीं शती के अन्त और १६ वीं शती के प्रारम्भ में माना। यह वही समय था जब प्रकृति की ओर लौटने का नारा साहित्य में ऊँचा किया जा रहा था इसी के साथ साहित्य में एक आन्दोलन अनजाने में ही बढ़ रहा था। कालरिज और वर्डवर्थ तो

---

ther Shakespeare wase more like Falstaff or Prospero, perhaps he resembles both, but we cannot know— "E. V. Lucas", (The evolution of whimsicality)

विशाल लहरों के प्रतीक थे पर काउपर और कालरिज के पत्रों में एक अनाम शैली का स्वरूप रूप धर रहा था जिसने बाद में एक सुनिश्चित कला का स्वरूप धारण किया और उसे नाम मिल गया।

इस विशेषता के अभाव के लिए किसी को दोषी न ठहराते हुए वह एक ऐतिहासिक सत्य की ओर इंगित करता है। वह मानता है कि तबतक उसके लिए समय नहीं आया था। एडिसन और स्टील आविष्कार कर रहे थे पर व्यक्तित्व पर विश्वास कराने का युग तब आया ही नहीं था।

व्यक्तित्व के होने न होने के प्रश्न पर आज जो मत निश्चित सा मान लिया गया है वह तब उतना स्पष्ट नहीं था। शैली के नष्ट होने, अपूर्णता, क्रमहीनता और संश्लिष्ट प्रभाव की कमी की दुश्चिन्ता से आलोचकों के चेहरे पीले पड़ते जा रहे थे। किन्तु साहित्य एक म्यूजियम की एक सी उभरी और एक ही मुद्रा में खड़ी मूर्ति ही तो नहीं है। वह एक जीवित कला है और निरन्तर किये जाने वाले प्रयोग ही उसे जीवन से भरा रख सकते हैं। इस दृष्टि से शैली की कोई पीढ़ियों पहले की निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती। जब शैली को ही मनुष्य कहा गया है तब इसका और कुछ अर्थ हो न हो पर इतना तो स्पष्ट ही है कि आदमी के साथ वह बदल भी सकती है। यह मानलिया जा सकता है कि "शैली क्या नहीं है?" का निश्चय जो सदियों पहले किया गया था, उसमें कुछ ऐसे दोष लिये जा सकते हैं जिन्हें समान रूप से हम स्वीकार कर सकते हैं। शैली, जैसे कोरी अलंकारिता नहीं हो सकती ऐसे ही और भी दोषों को हम मान लेंगे। पर इनके मानने न मानने से इस विषय पर एक दम प्रकाश नहीं पड़ेगा। प्रस्तुत करने के ढंग से अधिक महत्वपूर्ण यहाँ यह है कि क्या प्रस्तुत किया जाये। जब यह प्रश्न उठता है और

साथ ही कला को हम जीवन का पर्याय मानते हैं तब बिना किसी हिचक के कहना ही पड़ता है कि शैली व्यक्तित्व प्रधान होगी ?[1]

इसलिये उस युग के साहित्यकारों की कला में व्यक्तित्व का सम्पूर्ण अंश किसी न किसी रूप में आ गया है। यहाँ केवल यह कह देने से ही कि एक निश्चित क्रम से नहीं आया, व्यक्ति का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जायगा। रही शैली की पूर्णता की बात तो उसके लिए यही कहा जा सकता है कि वह निरन्तर विकास कर रही थी। कहीं वह स्पष्ट सामने आती थी कहीं कुहरे की आड़ में छिप जाती थी।

प्रीस्टले ने इस दो दलों में बंट गये निबन्धों का वैषम्य स्पष्ट करते हुए साफ ही कह दिया कि पहले के गम्भीर निबंध कहे जाने वाली वस्तुओं की स्थिति इन नये निबन्धों के आगे सुरक्षित नहीं है।[2]

यहाँ तक आ कर हम निश्चित रूप से कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। इन ऐतिहासिक परीक्षणों से सबसे पहली बात जो देखी जा सकती है वह है साहित्यकारों के उपेक्षित व्यक्तित्व की स्थापना का प्रयत्न। यहाँ और आगे चलकर सभी तर्क इसी का समर्थन करेंगे। इस प्रकार के साहित्य का मूल ध्येय साहित्यकार के व्यक्तित्व की भूख को ही मूल मानकर

---

1. Having insisted that literature is a living art, I addod that therefore it must be porsonal and of its essence personal. This goes very deep ; it conditions all our criticism of art, yet it conceals no mystery—E. V. Lucas.

2. This sweeps away at one blow, all the philopsohers historians & scientists masquerading as essayist—J.B. Priestlay Essayist Past & Present.

स्थापित किया गया है। गीतों (lyrics) के विकास में भी यही भावना काम कर रही थी और ज्योंही समाज ने गीतों में कही व्यक्ति की अपनी चिन्ता और अनुभूतियों से सहानुभूति दिखलाई, वे और अधिकाधिक अपनी आत्मा का परदा हटाते गये और कविताओं का साधारणीकृत व्यक्तित्व गद्य में और अधिक पारदर्शी बन गया।[1]

यह जिस व्यक्ति में पूर्ण वैभव के साथ चमक उठा था वह फ्रांस का मान्टेन था। 'एसे' (निबन्ध) शब्द का इस अर्थ में विश्वास के साथ पहले प्रयोग उसीने किया और कभी की अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल आत्मा को उसने 'वुल्फ' के शब्दों में एक छटपटाती मछली की तरह अपनी रचनाओं में रख दिया। स्वयं निबन्धों को प्रधानता उसने नहीं दी। विश्वास के साथ उसने कहा कि ये केवल हमारी आत्मा के संवाहक मात्र है। किसी उद्देश्य विशेष की ओर उसकी यात्रा नहीं थी। यात्रा को अपने में ही पूर्ण मान लेने की घोषणा उसने की और इस दिशा में वह औरों से स्पष्ट ही भिन्न रहा जो छिपाव और सन्देह में घिरे बैठे रहे उनकी उसने स्पष्ट आलोचना की।

मान्टेन ने स्वयं आत्मा के इन व्यापार की राह पर चलने वालों की गिनती की है। जैसे लैम्ब के निर्माण में बेकन, एडीसन, स्टील, गोल्ड स्मिथ आदि का हाथ था वैसे ही मान्टेन के इस विद्रोह के मूल में फ्रांस का रूसो था। पेरिस-क्रान्ति की नगरी है और आत्मा की मुक्ति का

---

1. In this writing we have heard tho very pulse and rhythm of the soul, beating day after day, through a veil which as time goes on fixed itself almott to transparency—Virginia Wolfe, The Comman Reader

पहला नारा वहीं से उठा था। आवश्यकता थी उस कोण को पूर्णता देने की। मान्टेन ने वह ऐतिहासिक कार्य किया।

किन्तु मान्टेन की ही शैली लेकर भी बेकन उतना अधिक विषय से दूर न हट सका। लैम्ब और मान्टेन दोनों व्यक्ति की अभिव्यंजना को अधिक महत्व देते थे पर स्वरूप में बहुत कुछ नजदीक होते हुए भी वे कुछ दूर थे। दोनों अपनी वर्तमान परिस्थियों के आश्चर्यजनक विरोधाभास भी थे और उस विरोधाभास ने ही उनके साहित्य और समाजगत सत्यों को प्रकाशित भी किया। बेकन एक ओर दुहरा व्यक्तित्व बना रहा था दूसरी ओर मान्टेन अपनी इस कला की दुस्साध्यता से अनभिज्ञ नहीं था। वह मानता था कि बात करना तो आसान है किन्तु लिखते समय कलम अंगुलियों से च्यू पड़ती है। आत्मा जो कुछ कहती है वह अक्सर युग की प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध ही होता है इसलिए ऐसी स्थिति में कार्य की गुरुता बढ़ ही जाती है; यही स्थिति बेकन के बिखरे चिन्तनों (Scattered meditation) की भी थी।

जैसा कि पहले हम कह आये हैं। इस शैली के सभी गुण एडिसन, स्टील, गोल्डस्मिथ में नहीं मिलते। इनकी कला में मुख्य स्थान रचनाकार का था अवश्य पर वह हर जगह मान्टेन के मध्यमार्ग की सीमाओं को लांघ कर एक पक्ष ले लेता था। एडिसन के "विजन आफ मिरजा" ऐसे प्रतीकात्मक वर्णनोंका अपना एक महत्व था। इसके अतिरिक्त क्रम बद्ध लिखे गये स्पेक्टेटर में छपे उसके हलके निबन्ध, जिनमें व्यक्तिगत अनुभवों का ही प्राधान्य था, एक परम्परा बना रहे थे जिसमें आगे चलकर डिकेन्स ने पूर्णता प्राप्त की। स्टील कुछ अधिक नरम और गम्भीर सा लगता था। एक आत्म-कथाकार के भावुकता के पुट के साथ लिखे

गये निबन्धों का अलग की महत्व है। उसका आत्म प्रकटीकरण योंहीं कुछ अनजाने में एक हो गया सा लगता है।

ले हन्ट और हेजलिस ने एक साथ ही लिखना प्रारम्भ किया था और बहुत कुछ "रानी एन" के युग के निबन्धकारों के अगले कदम के परिष्कृत रूप ये थे। ले हन्ट आलोचक था, साथ ही व्यक्तित्व प्रधान भी उसने बहुत कुछ लिखा। जीवन भर वह पत्रों के साथ प्रयोग करता गया किन्तु "दी इन्डिकेटर" युग में लिखी गयी उसकी रचनायें काफी महत्वपूर्ण है। हन्ट की सबसे बड़ी विशेषता थी कि वह उस युग के बड़े-बड़े कवियों शेली और बायरन आदि का अंतरंग था और विद्वान भी उसे मानते थे। इन सब परिस्थितियों से अपने युग की विशेषता उसमें बहुत कुछ अंशों में उपस्थित है।

किन्तु हेजलिट से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। हेजलिट अपने कुछ गुणों के कारण बेकन और लैम्ब के स्तर तक पहुँच गया था, किन्तु लैम्ब जैसा मधुर वह कभी नहीं था। उसमें एक क्षुब्ध प्रतिरोध बराबर विपंची स्वर सा झनझनाता रहता था और कभी कभी इस आक्रोश की तेजाब उसकी सुन्दर पंक्तियों पर चू पड़ती थी जिससे शैली पूरी की पूरी झुलस जाती थी। वह एक शक्तिपूर्ण आक्रामक सा बराबर सामने आता था और उसकी अभिव्यञ्जना में निहाई पर गिरते हथौड़े की ठनकार ध्वनित होती है। किन्तु यह सब होते हुए भी वह एक दार्शनिक भी है और ज्ञान की विविध धाराओं से इतना परिचित है कि उसकी रचना का एक-एक शब्द एक-एक निबंध ऐसा लगता है। उसकी शैली साफ चमकदार है जिसमें मनोभावों का गाम्भीर्य और रंगों की प्रचुरता है। साथ ही वह आत्मकथा की विशेषताएँ भी साथ ही रखता चलता है। इतनी

विशेषताएँ एक साथ जहाँ एकत्र हुई थी वह हेजलिट की शैली थी जो उसके साथ ही मुरझा गयी।

"लैम्ब" अपनी शैली के कारण ही इंगलिश निबंधकारों का राजकुमार कहा गया। इंगलिश में बेकन, ब्राउन, हेजलिट सब हैं पर यदि लैम्ब न होता तो सम्भवतः वह अभाव कोई भी पूरा न कर सकता। अपनी मधुर चाँदनी सी शैली के प्रकाश में वह पहाड़ी झरने की सी ताजी और मीठी हास्य ध्वनि में अपना अस्तित्व उपस्थित करता है। उसमें सम्मोहिनी इतनी अधिक है कि दोष भी गुण बन गये हैं इस दिशा में लैम्ब की स्वभावगत उच्चता और मधुरता भी बहुत काम कर रही थी। लैम्ब की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि उसने अपना वह सब कुछ उसी मुद्रा में साहित्य में उपस्थित कर दिया। इस प्रयत्न में न तो उसकी लेखनी कभी हिचकी और न तो स्वयं वह कभी अपने को बदल सका। ऐसी सफलता बहुत कम लेखकों को मिलती है। यही कारण है कि लैम्ब का स्वरूप बराबर आत्मकथाकार का रहा है। यहाँ तक की आलोचनाओं तक में उसका कोण बराबर वैयक्तिक रहा। अपने वर्णनों में वह एक सत्यवक्ता से अधिक भावुक दर्शक रहा, इसीसे केवल "रिपोर्टर" न रह कर वह कलाकार हो गया। "हास्य" के क्षेत्र में उसकी शैली अछूती है और अतिशयोक्तियों के होते हुए भी वह विश्वासपात्र बना रहता है। महत्वपूर्ण उपमानों की जगह जगह भीड़ लगी रहती है और यह विशेपता हास्य के प्रसंगों में भी दीख पड़ती है।

यद्यपि लैम्ब और स्टीवेन्सन के बीच में ब्राउन और स्मिथ ऐसे निबन्धकार आए किन्तु यह क्षेत्र इतनी दूर तक हलका ही लगता है। यह युग वस्तुतः मैकाले की फौलादी कला का था और उसके सामने सब

स्वर दब से गये थे। १९ वीं सदी का उत्तरार्द्ध स्टीवेन्सन के प्रकाश से प्रकाशित है। विक्टोरिया युग की भावुकता और निश्चिन्तता ने इसे थोड़ा स्थितिशील बनादिया था। इसी से न तो इसे नवीन बिजली का प्रकाश रुचता था और न तो पहले का मिट्टी के तेल का प्रकाश ही उसे काफी लगता था। यह गैस के प्रकाश में लम्बे लम्बे टेबुलों पर चलती रात की दावतों के युग का व्यक्ति था और वही पूरे जीवन भर रहा। "अरेबियन नाइट्स" के कल्पना लोक में बसा यह एक ऐसा स्वप्नदर्शी था जिसके लिए हिन्दुस्तान सिवा साहसिक कार्यों (एडवेन्चर लैन्ड) के और कुछ न था। इसी मानसिक विशालता (इन्टेलेक्चुअली ऐन्ड इमोशनली जायन्ट) के कारण भौतिक शरीर की दुर्बलता और व्यक्तिगत लाचारियाँ उसके साहित्य की शक्ति की बाधिका न बन सकीं। उसने अधिक से अधिक अपने जीवन पर लिखा पर इसी विश्वास से कि वह पाठक को विश्वास दिला दे कि छोटी से छोटी बात साहित्य में नहीं लिखनी है। ऐसा करो कि छोटी का सम्बन्ध बड़ी के साथ हो जाय। गाँव का छोटा रास्ता भी, तुम चाहो तो "रोम" की ओर जा सकता है।

स्टीवेन्सन के पहले स्मिथ और बाद में स्टीफेन अपने अपने आत्म कथात्मक रेखाचित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं। दोनों का विश्वास है कि शब्दों को पुनः प्रतिभा की टकसाल से ढाल कर बाहर करने का कार्य यदि न किया गया तो वे एक दम पुराने पड़ जायँगे और नई शैली में वे पुराने लगेंगे। जेफरीज तथा टामसन ने इस दशा में काफी निर्णायिक साहित्य दिया और मिसिगं ने भी लिखा किन्तु मुख्यतः वे कवि और उपन्यासकार थे। इनके हाथ में पड़कर इंगलिश कितनी मधुर और शक्ति पूर्ण बन गई इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसी समय मिडिल्टन की मृत्यु से एक अच्छा निबन्धकार विकसित होते होते रह गया।

यहाँ तक (१९०९) आते आते सारी की सारी पिछली भावनाएँ, थकान से भर गईं थीं और पिछली शैलियों का शृंगार पुराना पड़ता जा रहा था। 'रीड' के शब्दों में तत्कालीन समाज में इतनी शक्ति नहीं रह गयी थी कि वह धारा में नया प्रवाह भर सके। विक्टोरिया-युग का भारी भरकम दृष्टिकोण और दुनियाँ को सभालने वाला स्तम्भ अब काफी कमजोर हो रहा था। इंगलैण्ड पिछले उत्सवों की खुमारी में पड़ा था। आनन्द चला गया था, दर्द रह गया था और पैरों के संतुलन की जगह मनका अवसाद प्रबल हो गया था।

अगला युग इसकी प्रतिक्रिया लेकर आया और दो प्रभावशाली लेखकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई। जी. के. चेस्टरटन तथा गार्डिनर ने अपनी शैलियों के मूल में व्यक्ति के विद्रोह को नयी भूमि दी। तब से चलकर आज तक के पूरे युग की जो विवेचना पिछले अध्याय में हुई है वही इन लेखकों के मूल में स्थित है। अपनी आत्म-कथा में श्री चेस्टरटन ने स्थल स्थल पर विक्टोरिया-युग की विशालताओं की खिल्ली उड़ायी है। उसने कहा कि हम ऐसे राज्य में रहते हैं जहाँ कभी सूर्यास्त ही नहीं होता किन्तु हम उस सूर्यास्त के विरुद्ध अपनी आत्मा के रंगीन पर्दे पर छोटे सूर्यास्त (पिगमी सनसेट) की स्थापना कर रहे हैं। इस सिद्धान्त के साथ ही चेस्टरटन अपने हास्य (सटल ह्यूमर) के लिये प्रसिद्ध है साथ ही उसके भीतर एक ऐसा कवि है जो ऐसे किसी भी स्थल पर रुके बिना नहीं रहता जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। वैयक्तिक दर्शनों के साथ ही साथ स्थल स्थल पर वह सत्यों की भी घोषणा करता चलता है। गार्डिनर का यह कथन कि मैं विषय को केवल विचारों के टाँगने की खूंटी की तरह प्रयुक्त करता हूँ" आज

के निबंधकार की सबसे यथार्थ आलोचना मानी गयी है। वह काफी अंशों में रेखा चित्र 'स्केच' की कला में भी पारंगत है।

इ. बी. लूकास ने इस शैली का काफी गहराई तक अध्ययन किया है और अपने उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में वह काफी जागरूक है साथ ही वह एक रेखाचित्र लेखक भी है। एक विशेषता यह है कि वह नाटकीय धक्कों (साक्स) का भी प्रयोग करता है और परस्पर विरोधी शैली का सृजन चलता है। यही शैली उसे एक ऐसी सीमा पर ले जाती है जहाँ कहानी के तत्व आ जाते हैं।

आज भी इंगलिश में इस शैली पर काफी लिखा जा रहा है और जैसा कि प्रीस्टले का विश्वास है, नयी भूमि पाने के पश्चात् यह शैली बहुत विकसित होगी।

हिन्दी में
निबन्धों के दो युग

भारतेन्दु युग और नये प्रयोग

पिछले अध्यायों में जिस विकसित होती हुई परम्परा का परिचय एक बदलती हुई ऐतिहासिक धारणा के साथ दिया गया था उसने समय आने पर अपने निर्माण के माध्यम से अपने को सामने प्रस्तुत किया। यह वह युग था जब यूरोप भविष्य की ओर देखने की जगह अतीत का हिसाब लगा रहा था। नये युग के सभी चिन्तक या तो अप्रसिद्ध थे या कहीं एकान्त में बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे। बीज वर्तमान थे पर विकास के लिए कुछ ऐसी उत्सुकता न थी। कला में सूक्ष्मता बढ़ रही थी और साहित्य एक जमी हुई दूकान की तरह हो चुका था जिसकी सैकड़ों वर्षों की साख थी। जो कुछ वह कह रहा था उसके बारे में वह निश्चिन्त था। रूस में अभी आधी रात का सन्नाटा था और फ्रांस में उत्सव के बाद का—बत्तियां बुझने, दरवाजे बंद होने का—समय हो रहा था।

ऐसी स्थिति की तुलना भारत की फांसियों की छाया से चौंककर आँख मलती उठी स्थिति से नहीं की जा सकती। इसलिए उस युग के साहित्यकार का परिचय पाने के लिए आवश्यक है कि केवल शैली

की थोड़ी झलक पर ही न जाकर, विषय पर आया जाय। पहले इसका ही विचार हो ध्वनि तो बाद में स्वयं आ जाती है।

उस युग के हिन्दी के निबन्धलेखकों की तुलना एकाएक किसी अंगरेजी लेखक से करने की प्रवृत्ति भारतीय तो होगी ही नहीं साथ ही उससे ऐतिहासिक भ्रम उत्पन्न होने की भी स्पष्ट आशंका है। यह सच है कि भारतीय जन समाज में असन्तोष की भावना वर्तमान थी, और वह उसकी अभिव्यक्ति के लिए व्याकुल होकर आलम्बन ढूंढ़ रहा था। उसके सामने अंगरेजी साहित्य था और उससे प्रभावित बंगला साहित्य। अभिव्यक्ति की भूख का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि एक एक व्यक्ति के व्यक्तिगत उत्साह से पत्र निकलते थे, चलते थे, बन्द होते थे फिर निकलते थे, फिर चलते थे। सब में तत्कालीन परिस्थितियों पर आलोचनाएँ होती थीं, सीधे व्यंग होते थे, प्रतीकात्मक व्यंग होते थे और लम्बी-लम्बी कविताएँ भी सीधी-सीधी ब्रज या खड़ी बोली में रहती थीं। इतना कहना था और इस तरह कहना था कि इस आवश्यकता की लपट में ब्रजभाषा का वर्षों का व्यर्थ का शृंगार एक बारगी ही जल गया और साफसुथरी प्राचीन प्रयोगों से मुक्त शक्ति युक्त ब्रजभाषा का उदय हुआ। हिन्दी की खड़ी बोली की भूमि की स्थापना भी अतिवादों को बचा कर व्यवहारिकता की दृष्टि से की गयी। ऐसा लगता था कि पूरा का पूरा साहित्य एक बारगी ही "सैन्य-शिविर" की व्यस्तता से मुखरित और संचालित हो उठा है।

देश पराधीन था और उस युग के साहित्य की नींव भी उसी पीड़ा, अवसाद और उद्‌बोधन पर रखने का ऐतिहासिक कार्य उस युग के साहित्यकार कर रहे थे।

ऐसी स्थिति में केवल शैली की हलकी एकता के कारण तुलना करने की प्रवृत्ति एक आंशिक सत्य होगी पूर्ण नहीं। वस्तुतः अंगरेजी

लेखको की परिस्थितियाँ दूसरी थीं और इसी कारण इनके निबंधों की परिभाषा काफी दूरतक भारतीय निबन्ध लेखकों के उपयुक्त भी नहीं पड़ती। जब वे कहते हैं कि निबन्ध लेखक के लिए विषय प्रधान नहीं स्वयं अपना व्यक्तित्व प्रधान है तब इतनी दूरतक जाने को हम तैयार नहीं होते। यद्यपि व्यक्ति को समाज की इकाई मानकर सभी आन्दोलनों, सामाजिक दुश्चिन्ताओं, प्रसन्नता तथा विकास का प्रतिबिम्ब उनकी रचना में पाया जा सकता है किन्तु पराधीन देश के लेखकों को कला की दृष्टि से इतना सूक्ष्म होने का अवसर कहाँ था। खास करके जब वे केवल कुछ कहने के लिए ही दृढ़ता से कलम पकड़कर बैठ गये थे।

बैठने को तो बैठ गये थे पर न तो उनकी अपनी अभिव्यंजना की परम्परा थी और न भाषा का ही पीढ़ियों का परिष्कृत रूप था। ऐसी स्थिति में बिना माँ बाप के अनाथ पुत्रों की भाँति उनका प्रयत्न एक दम उजाड़ में पुकारी गयी आवाज सा ही निरीह और अनसुना हो जाता था। ऐसी स्थिति में इंगलैंड की निबन्ध कला की इस प्रकार की कलात्मक परिभाषा की कसौटी पर उनको नहीं कसा जा सकता। उसी समय नहीं अपितु अगली पीढ़ी में काफी दूरतक रास्ता चल कर भी आलोचक निबन्ध की ऐसी व्याख्या से सहमत नहीं थे। पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने लिखा है कि: "आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय,.....अथवा भाषा से सरकसवालों की सी कसरतें या हठयोगियों के से आसन कराये जायँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।" शुक्ल जी की

इस शंका में काफी गम्भीर संकेत छिपा हुआ है। केवल आत्मप्रकटीकरण के लिए लिखने का मतलब पहले कही हुई इकाई वाली दृष्टि से तो ठीक है पर अच्छे हाथों से निकल कर वह शैली अनसधे हाथों में एक विनाशक हथियार बनकर उलटा ही स्वरूप दिखाती। भारतेन्दु युग की सामान्य प्रवृत्ति में ऐसी स्वच्छन्दता के दर्शन कम से कम होते हैं। स्वयं यूरोप में ऐसी स्वच्छन्दता का विरोध न हुआ हो सो भी बात नहीं है। डा० जानसन ऐसे विद्वान इस दशा में शंका करते दीख पड़ते हैं। यों उनकी शंकाओं के पूरे अंश से सहमत होने न होने का प्रश्न यहाँ नहीं उठता किन्तु विचार का अंश तो उसमें है ही। प्रश्न जैसा का तैसा बना ही रह जाता है कि ये लेखक मान्टेन लैम्ब, हैजलिट या चेस्टरटन की निर्मित शैली के मानदण्ड से ही व्यक्तित्व प्रधान निबन्धकार मापे जायँ या न मापे जायँ। इन लेखकों के निबन्ध यद्यपि व्यक्तित्व विहीन (इमूपरसनल नहीं है और सबसे बड़ी बात यह है कि वे कभी भी व्यवस्थापक दार्शनिक की तटस्थ भूमि से भी नहीं बोलते फिर भी कुछ मुख्य बातों से उनका विरोध है।

जैसा कि पहले कह आये हैं उनकी शैली अलंकारिक संकेतों से लदी नहीं है जिसका तात्पर्य समझने के लिए पिछला साहित्य पूरा का पूरा उदरस्थ कर लिया जाय। इसके माने यह नहीं कि वे विद्वान नहीं थे। विद्वान वे थे किन्तु जब कलम पकड़ते थे तो विद्वत्ता प्रदर्शन की जगह सीधी तरह जो कहना होता वे कह दिया करते थे। यह बात तो स्वयं यूरोप के लोग भी जानते और मानते थे[1]। यहाँ हमें तो जो कहना था पहले

---

(1) Have something to say and say it as clear, as you can. —मैथ्यू आरनाल्ड

कहा जा चुका है पर यह भी याद रखने की वस्तु है कि दूसरी जगह से हमने केवल शैली ली थी, चाहे वह कहानी की हो चाहे उपन्यास की चाहे निबन्ध की, किन्तु आत्मा हमारी अपनी थी, बात हमें अपनी कहनी थी।

दूसरी जो शंका है कि निबन्ध की यह शैली रोमान्टिक युग की शैली है वह भी बहुत कुछ अंशों में ठीक है। हमने भी अंग्रेजी निबन्धों के परिचय में इस पर प्रकाश डाला है और एक युग ऐसा भी आया जब सब ढाँचा खिसक गया। किन्तु शीघ्र ही लेखकों ने अपनी जगह बदल दी और यही शैली सामने आयी। एक दम आधुनिक युग में इस शैली की क्या दशा है इस पर तो बाद में विचार होगा किन्तु भारतेन्दु युग की प्रवृत्ति रोमान्टिक नहीं थी ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे पुनर्जागरण के विश्वासी थे और प्राचीन वैभव के सपने उन्हें आते थे। वे प्रगतिशील थे पर 'भूत' के ही पुत्र थे। इसी कारण कविता के लिए उन्होंने ब्रजभाषा चुनी और यहाँ ऐसी शैली रखी कि जयदेव से लेकर पद्माकर आदि तक के चित्र अधिक चटकीले होकर उभरे।

इसलिए यहाँ यह मानने में हिचक नहीं होनी चाहिये वे लेखक व्यक्तित्वप्रधान लेखक नहीं थे। जैसे इंगलैंड की प्रारम्भिक प्रगति में 'एडीसन, स्टील' आदि पत्रकार लिखते थे वैसे ही इन्होंने भी लिखा और इस शैली को विकसित करने का भार वे अगली पीढ़ी पर छोड़ गये।

काल-विभाजन

भारतेन्दु युग तो उतना ही माना जाता है जितना स्वयं भारतेन्दु के आस पास था। एक मशाल की तरह वे जल रहे थे और आस पास

भीड़ बढ़ती जा रही थी। एक दिन वह मशाल तो बुझ गयी किन्तु उसकी स्मृति में काफी समय तक लोग जूझते रहे। श्री राधा चरण गोस्वामी ऐसे महन्तवर्ग के व्यक्ति भागकर उनसे मिले। श्री प्रतापनारायण मिश्र उनके ही मानस पुत्र थे और इन लोगों के अतिरिक्त पूरे देश में उनकी ओर देखने वालों की एक बड़ी संख्या थी। श्री बालकृष्ण भट्ट, श्री बद्री नारायण चौधरी प्रेमघन और बालमुकुन्द गुप्त तक यह परम्परा चली आयी है। द्विवेदी युग के वातावरण में भी इन लोगों ने वही स्मृति सुरक्षित रखी है। स्वयं द्विवेदी युग की इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण देन नहीं है। भारतेन्दु युग के साथ यह वृत्ति चली और द्विवेदी मंडल में इसकी ध्वनि लीन हो गयी, फिर जब यह ध्वनि उठी तो वह द्विवेदी मंडल के बाहर भविष्य के रोमान्टिक आन्दोलन की ओर देख रही थी।

इसलिए हिन्दी के ऐसे निबन्धों के विकास के दो ही युग रखे गये हैं।

श्री बाल मुकुन्द गुप्त इस परम्परा के अन्तिम व्यक्ति हैं जो सीधे राज शासन को उसी पुरानी मस्ती से ललकारते हैं। उनके बाद राज-नीति के नेतृत्व की परम्परा हिन्दी में साहित्यकारों के हाथ से निकल कर कांग्रेस के हाथ में चली जाती है। ठीक यही बात रवीन्द्र नाथ ठाकुर के साथ भी घटित हुई। जिस परिस्थिति ने रवीन्द्र बाबू को 'अपने कोने में ही बैठकर अकेले गाने' को बाध्य किया उसी ने हिन्दी के साहित्यकार की मौलिक स्थिति भी समाप्त कर दी।

अबतक के साहित्यकार स्वयं नेता थे अब वे स्वरवाहक मात्र रह गये। निबंध आगे भी लिखे गये और लिखे जायेंगे पर वह स्थिति फिर न आयेगी।

श्री माधव प्रसाद मिश्र को भी हम इसी वर्ग में ले रहे हैं। यद्यपि वे काफी बाद हुए थे किन्तु नयी परम्परा की पकड़ उनमें न थी।

स्पष्ट ही यह विभाजन दो युगों का विभाजन होने के साथ ही दो प्रवृत्तियों का भी विभाजन है।

भारतेन्दु-युग के साहित्यकार

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु उस युगकी सभी प्रवृत्तियों के मूल में थे और उनका ही अप्रतिहत व्यक्तित्व था जिसके बल पर कितने जनों को खड़े रहने का साहस मिलता था। गद्य की भिन्न भिन्न शैलियों पर उन्होने निरन्तर प्रयोग ही किए इसलिए उनमें किसी एक शैली की प्रधानता देखना एक अंग ही देखना होगा। यों तो भारतेन्दु जी ने टेढ़े सीधे व्यंगों की मार बराबर की है किन्तु ठीक व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध ऐसी कोई शैली वह युग नहीं दे पारहा था। जैसा कि भूमिका में कहा गया है इस युग के लेखकों की रचनाएँ प्रारम्भिक विकसित होती हुई व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध परम्परा में आती हैं। भारतेन्दु जी को सीधे कहने का मौका तो मिला है और स्वयं अपने ही लिए उन्होंने कम नहीं कहा है। वे सबसे जागरूक लेखक इस अर्थ में भी थे कि उन्हें अपने जीवन की परस्पर विरोधिनी धाराओं का पूरा भान था। समाज का आवरण उनको छिपाना चाहता था और वे उसे चीर कर बाहर आना चाहते थे। यह व्यवस्था उन्हे खल रही थी पर रास्ता पाने का वह युग था नहीं। खोज वे कर रहे थे और उसके परिणाम स्वरूप सैकड़ों नयी राहें उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की निकालीं जो उनके मरने के साथ ही, उनके अधूरे जीवन जैसी ही अधूरी रह गयीं। जब उन्होंने अपनी ही कलम से लिखा कि "सब लोग आनन्द करें

और सबकी आँखों का तारा हरिश्चन्द्र ही कष्ट सहे" तो उनका दर्द ऊपर आगया था। "क्या करें संसार के लोग सुखी रहें और प्यारा लोगों का परम बंधु पिता, मित्र पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय सौजन्य का एक मात्र आश्रय...हरिश्चन्द्र ही दुखित हो।"

किन्तु यह दर्द केवल दर्द ही बनकर उनके जीवन में नहीं रहा। उन्होंने विश्वास भी किया था कि "जगत के विपरीत गति चल कर तुमने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो तू संसारी वैभव से सूचित नहीं? तुम्हें इससे क्या? प्रेमी तेरे जो सर्वस है औ तू जिन्हें सर्वस है वे तेरा नाम लेंगे और तेरी रहन सहन को अपनी जीवन पद्धति समझेंगे। फिर तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनो ही भूल जाते हो। स्मरण रखो ये......ऐसे रह जायेंगे तुम लोक वहिष्कृत हो कर भी इनके सिर पर पैर रख कर बिहार करोगे। "कहैंगे सबै नैनन नीर भरि भरि प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायगी।"

इस आत्म कथन में अपने नाटक के प्रारम्भ में स्वयं उन्ही का यह स्वागत कथन है, प्रस्तुत चाहे जैसे किया गया हो उन्हों ने अपनी इस बाहर और भीतर जूझती आत्मा को एक दम सामने रख दिया है। ऐसे व्यक्ति का कोई भी अंश कभी छिपा नही रह सकता। मरते समय भारतेन्दु ही कह सकते हैं जाओ कह दो कि जीवन नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है, पहिले दिन ज्वर...दूसरे दिन दर्द...तीसरे दिन खाँसी... देखे लास्ट नाइट कब होती है।

ऐसे व्यक्ति का अपनी रचना में घुलमिल जाना कुछ महत्व रखता है और पाठक इतना पहचानने लगता है कि चाहे जिस ढंग से वे वेश बदल कर आवें उन्हें पहचान ही लेगा। ब्रिटिश स्पोज आदि में जो बातें सीधे ही कह दी गयी है उन्हें कहने का एक और भी ढंग प्रचलित हो गया

था। स्वप्नों की आड़ में सभी बातें कह दी जाती थीं और अपने मन का उद्वेग भी शान्त कर लिया जाता था। स्वयं भारतेन्दु का अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन, राजा शिव प्रसाद का राजा-भोज का सपना, राधा चरण गोस्वामी को यमपुर की यात्रा आदि उस युग की अद्‌भुत रचनाएँ हैं।

एडीसन के दी विजन आफ मिरजा की तरह ये सब स्वप्न लोक से देखे वास्तविक जगत के यथार्थ चित्र थे। एडीसन ने कल्पना का अतिरेक कर दिया है और इस प्रकार अपने को प्रतीकों के माध्यम से छिपा ले गया है किन्तु भारतेन्दु को इसकी आवश्यकता नहीं होती। वे साफ साफ कह सकते हैं:.........

फिर पड़े पड़े पुस्तक रचने की सूझी। पर इस विचार में बड़े कोरे निकले। क्योंकि बचने की देर नहीं कि कीट क्रिटिक काट कर आधी से अधिक निगल जायँगे।

उस समय उस परमेश्वर को धन्यवाद दिया जो संसार को बना कर क्षण भर में नष्ट कर देता है और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिंदा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है।

शीत दावानल दर्पण की आड़ में किसी तत्कालीन महोदय की आलोचना कर रहे हैं:......इन से नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी, किन्तु वेणु बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इन के मुख्य शिष्य थे।

किन्तु स्वप्न का यह क्रम भंग कर के पांचवे पैगंबर मूसा पैगंबर बन कर भी सामने आते हैं। यहाँ के व्यंग भी बड़े तीखे हैं पर एक नाटकीय मेकअप यहाँ भी है।

"लोगो दौड़ो दौड़ो मैं पाचवाँ पैगम्बर हूँ। दाउद, ईसा, मूसा, मुहम्मद ये चार हो चुके मेरा नाम चूसा पैगम्बर है।...खुदा ने फरमाया है कि मेरे बन्दे पैसे से गुनाह करते हैं, अगर उनके पास पैसा न रहे तो वे गुनाह न करें। इससे तू सबसे पहले इनका पैसा चूस ले।

और तब एक झटके के साथ वह सारा का सारा प्रकाश घुमा कर अपने ऊपर कर लेते हैं :—

"खुदा ने मुझे हुक्म दिया है कि तू सब को मेरे ईमान में ला। दाऊद ने बेजा बजा के मुझे पाया, तू हारमोनियम बजावेगा। मूसाने खुदाई रोशनी से कोहतूर जलाया, तू अपनी रोशनी से जमाने को जला कर काला करेगा। ईसा मर के जिया था तू मरा हुआ जीता रहेगा। मुहम्मद ने चाँद को बीचसे काटा था, तू चाँद का कलंक मिटा कर अपना टीका बनावेगा।"

भारतेन्दु की सफलता का मूल यही था कि उन्होंने कोई दुराव नहीं रखा और अपनेको एक सिक्के की भाँति बाजार में फेंक कर वे सब की आँखों में उसकी कीमत आँकते रहे।

इन्हीं की शैली में श्री राधाचरण गोस्वामी ने भी जमपुर की यात्रा की है पर दुनिया से एक भी कदम हटे बिना ही वह यात्रा पूरी भी हो गयी। राजा भोज का सपना उपदेशात्मक हो गया है नहीं तो ऐसी शैली का एक सुन्दर उदाहरण था।

श्री बालकृष्ण भट्ट

श्री बालकृष्ण भट्ट के व्यक्तित्व का ध्यान करने के साथ मेरे गाँव के पूरब कई कोस दूर स्थित उस छोटे सफेद मन्दिर का चित्र आँखों के सामने झूल जाता है। मन्दिर के ऊपर एक लम्बे बाँस पर फड़फड़ाती

लाल पताका का रंग अभी तक कभी भी फीका नहीं हुआ ऐसा मुझे लगता है। पता नहीं कब और कैसे वहाँ का बुड्ढा पुरानी पताका बदल दिया करता है। भट्ट जीके उस अकेले उजाड़ में बसे छोटे विश्वास के मन्दिर की पताका का रंग भी कभी तनिक सा भी धुंधला दीख नहीं पड़ा। व्यक्ति अपनी परवशताओं और अदम्य इच्छाओं के संघर्ष में कितना दृढ़ रह सकता है, यह बालकृष्ण भट्ट का इतिहास है। जीवन के अन्तिम काल तक वे निरन्तर देश की विचार धारा के सम्मुख अपने को प्रस्तुत करते गये किन्तु इस दिशा में कहीं भी अपनी लघुता के प्रति आशंका उन्हें नहीं हुई। वैषम्य तो उन्हें साफ दीख रहा था :—

मधुप ! यह इसमें मुझे ऐसा विपाक्त पुष्परस पीने को मिला कि कलेजा झौंस गया। आशालता कुम्हला गयी। जो देखने से इतने भव्याकृति और आचार युत है, चेहरे से जिनके शिष्टता, बड़प्पन और सभ्यता बरस रही है उन तक के गुप्त आचरण इतने मलीन और दुर्गन्धयुत हैं तो ओछे छिछोरे जनों का क्या ठिकाना, (आकाशवाणी) मधुकर इतने ही से उकता गया। अभी तो तुम्हें बहुत सी लीलाएँ देखनी हैं।

मधुप—हिन्दी प्रदीप—

साथ ही एक विचित्र प्रकार की मस्त और व्यंगात्मक मुद्रा से भी वे सामने आते हैं। इस प्रकार के निबन्ध-लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह भी होती है कि वह परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का धूप छाहीं समन्वय होता है। एक स्थल पर बादलों की तरह घिरा व्यक्तित्व दूसरे स्थल पर स्वच्छ और गुदगुदाने वाली सबेरे की धूप सा बन जाता है:—

लोग समझते होंगे कि पण्डित जी बड़े खुशी हैं, बेहने घुने का काफी से ज्यादा मिलता है, नगावड़ी बैल से बैठे पागुर किया करते हैं और

ऐंड़ाते रहते हैं । पर कोई क्या जाने कि जजमानों का ताव संभालना कितनी कितनी भारी मुहिम है ।

'नये तरह का जनून'—हिन्दी प्रदीप ।

जैसा कि व्यक्तित्व प्रधान निबंधों की विशेषता में कहा गया है लेखक का बहुत कुछ स्वयं अनुभूत होता है, इसलिए उसके अपने बनाये मुहावरे अपने गढ़े शब्द होते हैं और अपने मन का चित्र उपस्थित करने के लिए वह बिलकुल अछूती उपमायें सामने रखता है । 'नगावरी बैल' से पगुराने से भट्ट जी की अपनी आंख से देखी हुई मूर्ति के दर्शन होते हैं । वकील के लिए वे कहते हैं :—

'यह जानवर ब्रिटिश राज के साथ ही आया है ।' ये राय दुर्लभ-चन्द के राय सुलभचन्द है :—

"विधाता की अद्भुत सृष्टि का नमूना किस मतलब से गढ़ा गया कौन बता सकता है ! कुम्हार का बर्तन होता तो बदल दिया जाता । ब्रह्मा महाराज इसे गढ़ते समय दुचिते हो रहे थे या 'लुक एंड लाफ' हाथ में लिए रहे हों ।"

व्यक्ति को देखने और उसे पाठकों के लिए अपनी वाणी से उपस्थित करने के ये उनके उपमानों और आरोपित भावनाओं से बनाए गये चित्र हैं । किन्तु अपने पूरे रचना काल में उन्होंने जो सैकड़ो व्यक्तियों को समय समय पर अपनी रंगीनी से रंग कर और अपने फक्कड़पन से आसपास का वातावरण बना कर उपस्थित किया है वह हिन्दी साहित्य की चित्रण परम्परा में अपना अलग ही स्थान रखता है । अलग अलग चित्र देने के साथ ही कहीं कहीं पूरे समूह का पेंसिल स्कैच भी वे सफलता से दे गये हैं, केवल बोलने के ढंग से व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करना

एक नयी किन्तु दुस्साध्य कला है पर भट्ट जी ने उसे चुटकी बजाते बजाते कर दिया है :—

"आप आप हैं। पंडित अमुक अमुक। पंडित जी नमस्कार। ये दूसरे कौन हैं बाबू। कान्त देव कि महाशय पाल वा सेन। मिस्टर सो एंड सबे 'हाउ डू यू डू' 'ओ यह सेठ जी हैं जै गोपाल सेठ जी 'और यह आप है ओः तो आप क्या है=बला है, करिश्मा है, तिलिस्मा है फिनामिना है। उठती उमर जग जाहिर जवानी के उफान में न जाने कितने कंटाप और पदाघात सह कर तब अनंग के अखाड़े में पहलवानी प्राप्त की है।"

'मेला ठेला' हिन्दी प्रदीप।

उनका दृष्टिकोण व्यक्तियों तक ही नहीं सीमित था। नामों की कुरूपता पर भी वे बरस पड़े थे और कई लेख केवल नाम माहात्म्य पर लिख डाला था। 'दीन' की परीशानी उन्हें कितना क्षुब्ध कर देती थीः—

"गाजी दीन, मसुरिया दीन, गंगा दीन, दुर्गादीन, शीतलादीन, मातादीन, भगवानदीन आदि दीन वाले नामों की दीन दशा पर हमें भी एक नयी कल्पना सूझती है—अकिल अजीरन दीन।

नये फैशन की ओर उनका सांस्कृतिक मन शिव के तीसरे नेत्र से रो देखता था—

"हमारे मित्र ने जो बँगला लिया है उसका नाम है सब्ज़ झोपड़ी—सब्ज़ उसका नाम इसलिए पड़ा कि वह रहने वालों को सब्ज़ बाग दिखाती है।"

कितना अद्‌भुत कारण कह गये, साथ ही मन की बात भी कह

डाली। ऐसी ही अद्भुत तर्कना प्रणाली पर एक बार उन्होंने स्वयं ईश्वर को झूठा ठहरा दिया—

लोग कहेंगे इसे कुछ खफ़नान हो गया है या उन्नसवीं सदी के फैशन के अनुसार नास्तिक बनने का हौसिला चर्राया है...जो हो मुझे तो इस अस्तव्यस्त कारखाने को वे देख कर ही ऐसा भासता है कि वह या तो कुम्भकरन का जेठा भाई बनने की हवस बुझा रहा है या जानता है तो अवश्य दिल्लगी कर रहा है।

जिस कसौटी से हम लोग आपस में एक दूसरे को जाँचते हैं वही यदि यहाँ भी लगाली जाय तो उसकी ईश्वरता की कलई खुल जाय।"

'ईश्वर भी क्या ठिठोल है'...हिन्दी प्रदीप।

ऐसे चित्र उनके निबन्धों में सर्वत्र बिखरे हुए मिलते हैं। क़लम के हलके झटके से कहीं उनका कोई अंग उभर आया है, कहीं कोई। अकसर चित्रों को अधूरा ही छोड़ कर वे जल्दी से आगे बढ़ जाते हैं। संतुलन का ऐसा सुन्दर निर्वाह अन्य कलाकारों में कम है। अपने ही बनाए चित्रों और रस के साथ वर्णित होते अंशों को बिना मोह के साथ छोड़ कर कला के बीच निस्पृह बना रहना साधारण व्यक्ति का कार्य नहीं होता। किन्तु भट्टजी हर एक स्थल पर अपने इस गुण का पालन अकसर नहीं कर पाते थे। खराबियों को ललकारते समय वे अवसर आवेश में आ कर जब व्यंग बाण छोड़ते थे तब उनके पैने किये हुए मुहावरों, जिन्दादिली से चमकती भाषा और विद्वत्ता जन्य सूझ के तीरों से भरा कोष अक्षय तूणीर बन जाता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल जी ने भी उनके इस संतुलन भंग करने को उनका चिड़चिड़ापन कहा है। किंतु उनका *चिड़चिड़ापन या व्यंग उनके कथन* की विशेषता के झीने आवरण में

कभी कभी ऐसा स्वरूप छिपा लेता था कि अक्सर पहली बार में पूरी दूरी तक समझ में नहीं आता था :—

"हमारे पुराने वैय्याकरणों और अलंकारिकों ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द की शक्ति माना है। 'ब्याबू' शब्द में 'न' जुटजाने से ऐसी ही एक नयी शक्ति पैदा होती है, जो आदमी को बन्दर 'ब्याबून' बना देती है।"

यहाँ तक तो जैसे सब कुछ परिभाषा सा लगता है और ढंग से सामने आया है, पर आगे एक झटके से सामने आ जाते हैं :—

"अमूमन बाबू वही है जो अपने से सुपीरियर हाकिम बाला की घुड़की और झिड़की सहने में प्रवीण हो—गरज़ यह कि घट्ठे पड़ गये हों। दस की नौकरी मिल गयी मानो शाही तख्ता मिल गया।"

इंगलिश पढ़े सो बाबू होय—हिन्दी प्रदीप।

उनका यह तत्व इतना प्रबल है कि कहीं भी रहेंगे, किसी भी विषय की बात करेंगे मौका मिलते ही अपनी कह डालेंगे। यहाँ गार्डिनर की वह उक्ति याद आती है कि विषय तो निबन्धकार के लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कपड़े लटकाने के लिए खूंटी। भट्ट जी भी चाहे वहाँ, जिस रास्ते पर हों उन्हें याद अपनी बनी रहती है। रसाभास ऐसा शास्त्रीय विषय लेकर वे यहाँ आ रहे:—

"हमारा हिन्दुस्तान इसी रसाभास के रगड़े में पड़ा हुआ खराब खस्ता हो रहा है। हजार तदवीर की जाती है कि शान्तरस को झाड़ू मार कर दूर हटावें......पर चांडाल यह शान्त रह दूर होने का नामही नहीं लेता। देश बुझी राख के समान निर्जीव हो रहा है।"

रसाभास......हिन्दी प्रदीप।

किन्तु इन सब व्यंगों विद्रूपों, हास्य और गम्भीरता की धुन्ध से उन्होंने कभी भी अपने को धोखा देने का या स्वयं उसी धुन्ध में छिप रहने का प्रयत्न नहीं किया। 'रीड' ने इसी धुन्ध को शंका की दृष्टि से देखा है पर भट्टजी जो कुछ है साफ है :—

"हम समझते थे कि एडीटरी का काम बड़ी स्वच्छन्दता का है इसमें किसी तरह की पोल नहीं। समय से पत्र निकाल चुप हो बैठ रहे। न ऊधो का लेना न माधो का देना। पर तले तक डूब कर जो देखा है तो जैसी इससे ढोल में पोल है वैसी किसी दूसरे काम से नहीं। टटके ख्याल दिमाग से निकाल कर चुटीले से चुटीला लिखा कि पढ़ने वाले रीझ तुर्त पत्र का मूल्य भेज देंगे। पत्र पहुंचा, पढ़कर प्रसन्न भी हुए किन्तु मूल्य के तकाजे का कार्ड रद्दियों में फेंक तीन कोने का मुंह बनाय बैठे रहे।"

ढोल में पोल.........

आज श्री भट्ट जी के वंशजों को इन्हीं तीन कोने के मुहों की भीड़ में बैठना पड़ता है और उनकी जिन्दगी के चारो-कोने कभी दुरुस्त नहीं हो पाते।

भट्ट जी की तुलना पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने एडीसन से की है। जहां एक ओर हिन्दी प्रदीप के अविराम प्रवाहित विचारों की दृष्टि से वे एडीसन की बगल में खड़े दीखते हैं ह्यूजवाकर का यह कथन कि एडीसन बुद्धि सामने रखता है स्टील हृदय पक्ष, स्वयं भट्ट जी के लिए भी सच है। वे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक तार्किक ही अधिक है, हृदय की भावुकता का मोहक रूप वहां कम मिलता। ऐसी नियति से जूझने वाले रचनाकार से अगर वह नहीं मिला तो उसकी शिकायत भी हमें नहीं है। रहा उनकी बराबर अनिश्चितता में झूलती जिन्दगी उसका

'झटका' तो था ही पर वहां भी उनकी अप्रतिहत मुद्रा में हम चिन्ता की छाया नहीं देखते ।

पंडित प्रताप नारायण मिश्र

जीवन के खेल में प्रताप नारायण मिश्र की स्थिति कबड्डी खेलने वाले उस लड़के की दीखती है जो बीच की रेखा पर पैर रखे निरन्तर सांस रोके आगे की ओर झुका उत्तेजना के कारण बराबर अपने पंजों पर उमड़ता रहता है, और जहां मौका आया लपट की तरह दूसरे दल में घुस जाता है । निरन्तर छटपटाती मछली की तरह उसकी आत्मा बराबर उसके हाथ से जैसे फिसली सी पड़ती है और उसको संभालने के लिए वह बेचैनी से शत्रुपक्ष में चक्कर काटा करता है । ऐसा लगता है कि अगर वह ऐसा न करके चुपचाप बैठ रहेगा तो वह उससे दूर हो जायगी ।

विश्व साहित्य में ऐसे कम लेखक या कलाकार हुए हैं जिन्हें अपनी आत्मा के पीछे इतना बलिदान करना पड़ा हो । मान्टेन ने एक स्थान पर लिखा है कि 'यह कहना तो आसान है कि आत्मा का कहा करो' पर आत्मा जो कहती है वह तो अक्सर जमाने का उलटा ही होता है । इस लिये यह 'आत्मा का नेतृत्व मानना' तो बड़ा कड़ा रास्ता है । न जाने कितने भयंकर स्थानों में वह सत्यवान की आत्मा की तरह दौड़ाये और साथ ही स्वयं उसको बराबर संभाले रहना भी कम मुश्किल नहीं है । उसे संभालने के अर्थ होते हैं सब कुछ भूल जाना और उतना ही देखना जितना वह देखने दे । शुकदेव मुनि ने भी एक बार अंजुलि में तेल भर कर नगर दर्शन किया था । तेल छलक जाने के डर से वह कुछ भी न देख सके थे केवल वही देखा जो उस तेल में प्रतिच्छायित हो सका ।

परस्पर विरोधी स्थितियों में पड़े लेखक का अपनी आत्मा की ठेस

लगने से बचाकर चलना शुकदेव के भ्रमण से कहीं अधिक भयंकर कार्य है। एक ओर रक्षा भी करनी है दूसरी ओर खतरा लेने का आदेश भी उसी से प्राप्त होता है।

श्री प्रताप नारायण जी प्रधान रूप से और भारतेन्दु युग के करीब करीब सभी लेखक इसी विरोधाभास में विकसित हुए थे। सारी विपत्तियों के बीच जितना अदम्य उनका उत्साह था वही क्या कम था ? उनके निबन्धों में जो व्यक्तित्व उभरता है वह एक सजीव फक्कड़ और उद्दंड ब्राह्मण का है। संस्कार के कारण उनकी तेज़ जबान दबती नहीं.........

'हमने भी स्कूल में सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला पर नर्क और बैकुंठ का पता नहीं पाया।' धोखा.........

स्वयं ये नाटकीय व्यक्ति थे और ग्रीन रूम की आवश्यकता ने उन्हें मूंछें मुड़वाने को बाध्य किया था, किन्तु निबन्धों में भी वे कभी कभी मेक-अप करके हमारे सामने आते हैं। ...

'पर यदि हमी श्वेत लेप लगा लें और अपना नाम भी रेवरेन्ड मिस्टर P. Naroyegem massur ए. बी. सी. डी. ई. रख लें तो तुरन्त आप मेरे बंगले पर साक्षात् कर करस्पर्श के लिए उत्सुक होंगे।'

विलायत यात्रा.........

यहाँ हम देखते हैं कि सीधे बात करने की जगह वे स्वयं अपने को उछाल कर रख देते हैं। जैसे बाजीगर एक एक नाम देकर झोली में से खिलौने निकाल कर सामने रखता है वैसे ही मिश्र जी भिन्न भिन्न स्थलों पर स्वयं अपना ही नाम बदल कर उपस्थित होते रहते हैं। इसका कारण यही है कि वे बराबर पाठक या श्रोता के एक दम पास रहना चाहते हैं। इसी से जीभ और रचना के बीच की दूरी हम बराबर घटते

देखते हैं और अपनी शैली की पूर्णता के साथ वे वाणी को इतनी शक्ति-पूर्ण बना सके हैं कि वह जीभ की सारी सजीवता लेकर स्वयं मुखर बन गयी है। किन्तु जीभ अकेले ही वाणी में नहीं आयी है। उसके साथ आत्मा अपनी पूरी आत्मीयता के साथ पाठक के पार्श्व में सरक आयी है। पीछे छोड़ने के नाम पर वह विद्वत्ता जन्य कट्टरता और अहमन्यता और संस्कृत स्वरूप छोड़ आयी है और पास आने पर ग्रामीण सी लगती है। कहावतें पद पद पर आती हैं वैसे ही गाँव की धूल से सनी जैसे रास्ते से गिरी उठाली गयी हों। इस चुनाव ने भाषा में वर्षा का धूसर प्रवाह भर दिया है और रचनाकार की गरजती आत्मा का आवर्त्त उसे नचाता चलता है :...किसी ने कहा होली है :...

''तुम्हारा सिर है। यहां दरिद्र की आग के मारे होला भुना हुआ हरा चना हो रहे हैं, इन्हें होली हैं, हैं हँस दिये ! भला हमारी बातों से तुम्हारे मुंह से हि हि तो निकली। इस तोबड़े से लटके मुंह में टाकों के समान दो तीन दांत तो बाहर निकले। और नहीं तो मसखरे पन का मजा तो आया। देखो, आँखें मिट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गयी हो तो देखो।

होली है........

'जब सब कुछ धोखा ही धोखा है और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है और धोखे (माया) के कारण संसार का चर्खा भिन्न भिन्न चल रहा है, नहीं हो ढिचर ढिचर होने लगे, वरंच रही न जाय, तो फिर इस शब्द का श्रवण या स्मरण कर आपकी नाक भौं क्यों सुकुड़ जाती है। हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खेल के धोखे न हुए तो समझ गये होंगे।'

धोखा......

साथ ही वे अपनी भी बात पाठकों से कहते हैं :—

'हमको वास्तव में इतनी भी जानकारी नहीं कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा इस मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किन्तु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं और हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देखकर सुख प्राप्त करते हैं।

धोखा...

स्वयं प्रताप नारायण जी को लेखनी और जिह्वा का समान भाव विदित था, यहाँ साफ़ दीखता है पर जिस जानकारी की शर्तें पूरी न होने पर ये मूर्ख बनने जा रहे हैं उस पर तो दुनिया का कोई भी विद्वान मूर्ख बन सकता है।

साथ ही व्यक्तित्व प्रधान निबन्धकारों की साहित्यिक संकेतों से भरी शैली की जगह यहाँ भाषा के श्लेषों ने ले ली है। हिन्दी भाषा अपने इन श्लेषों के कारण बड़ी जीवन पूर्ण है और साधारण साहित्यिक संस्कार सम्पन्न पर जीवन को खूब जानने वाला पाठक इसे खूब समझ सकता है। ऊपर कहे गये 'संकेतों' के लिए पिछला सारा साहित्य पचा लेना आवश्यक होता है इसी कारण निबंधों में दुरूहता आ जाती है। लैम्ब को समझना इगलैंड में तो मुश्किल है ही पर भारत के लिए तो उसके उद्धरण एक अगम्य पहेली ही बन जाते हैं। प्रताप नारायण जी की यह प्रकृति उनकी कमजोरी नहीं अपितु दूसरा पहलू है जिसपर हमें विचार करना है। स्थानिकता का पुट भी ऐसे निबन्धों की सजीवता के लिए आवश्यक कहा गया है। मिश्र जी के निबन्ध इस दृष्टि से उनके देशी मोटे कपड़ों की (इस आन्दोलन के वे नेता थे) ही कक्षा में पूर्णतः देशी नहीं है।

विषयों के चुनाव और शीर्षकों की रचना के प्रताप नारायण जी

आचार्य थे। अक्सर उनके शीर्षक विचित्र होते थे, एक झोंक आयी तो अक्षरों को उठा लिया और त, ठ, द आदि पर ही लिखने लगे। फिर मन में आया दाँत, नाक, भौं पर ही लिखने लगे। कभी आपको सम्बोधित करके शब्द की व्याख्या के साथ कुछ खरी खोटी सुना गये। ऐसे विषय और शीर्षक केवल विषय और शीर्षक तक ही रह जाते थे। थोड़ी ही दूर बाद रचनाकार अपनी बात कहने लगता था और सब कुछ पीछे छूट जाता था। गार्डिनर की विषयों को खूंटी मात्र मानने की बात यहाँ काफी साफ लगती है। 'द' पर लिखते लिखते वे भाषा की एक विचित्र कलाबाजी दिखाते है......

"दमड़ी कैसी तुच्छ संख्या है, दाद कैसा बुरा रोग है। दरिद्र कैसी कुदशा है। दारू कैसी कड़ुवाहट है। देशी लोग कैसे घृणित होते हैं।"

सरपट चाल से भागते भागते वे अपनी चोट आखिर में कर ही गये। यहाँ पहले कही गयी खेल के लड़के वाली बात का फिर स्मरण हो जाता है जो तेजी से झपटता हुआ पास से निकलने का बहाना बनाकर के उसी झटके से दूसरे पक्ष के कई लोगों को छू कर खेल ही खेल में 'मार कर' बैठा भी देता है। भौंहपर लिखते लिखते वे कहने लगते हैं:...

"हमारे देश भाई विदेशियों की वैभवोन्माद रूपी वायु से संचालित भ्रकुटि लता को ही चारों फल दायिनी समझ के न निहारा करें। ......यदि हमारे धन, बल, माया इत्यादि निर्जीव हो रहे हैं तो भी यदि हम परायी भौंहें ताकने की लत छोड़ दें, आपस में बात बात में भौंह चढ़ाना छोड़ दें, दृढ़ता से भौंहें तान कर देश के लिए सन्नद्ध हो जायं तो फल मिलेगा अवश्य।"

यद्यपि यहाँ भाषा की पच्चीकारी है अवश्य पर भौंह ही प्रधान नहीं रह

जाती । स्वयं लेखक अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ सामने आकर खड़ा हो जाता है और स्वभावतः हमारा ध्यान उसी पर केन्द्रित हो जाता है ।

अन्त में जो महत्वपूर्ण बात सब के मूल में स्थित दीखती है वह है मिश्र जी की तर्क प्रणाली । वे बड़ी से बड़ी बात को या तो विचित्र सूक्तियों के माध्यम से कह जायँगे या अपने अनुभूत तत्व कथन का सहारा ले लेंगे । इस दिशा में उनका शास्त्रों का सहारा न लेना ही उनकी दिशा स्पष्ट कर देता है । अंग्रेजी पढ़ कर अंगरेज राजजातीय नहीं हो जायँगे उसका समर्थन वे इस प्रकार करते हैं : -

"तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीखकर मनुष्य नहीं हो जाते फिर आप ही राजभाषा सीखकर राज जातीय कैसे हो जाँयगे ।" स्वतंत्र...

स्वतंत्रता की कितनी मनोरंजक सीमा आप खींच रहे हैं: —

'घर में...यदि कोई बड़ा बूढ़ा हुआ और इनका दबैल न हुआ तो जीभ से चिट्ठी का लिफाफा चाटने तक की स्वतंत्रता नहीं । इसके अलावा किसी से ऋण लें तो चुकाने में स्वतंत्रता नहीं, दण्डप्राप्ति में स्वतंत्रता नहीं, नेचर का बिरोध करें तो दुख सहने में, इच्छानुसार उजला का काला कहने में भी स्वतंत्रता नहीं ।'

स्वतंत्र......

कारण देने में भी अपनापन बना ही रहता है । उस वस्तु के और भी कारण हो सकते हैं पर इनके दरबार में उसका यही कारण होगा:—

'सावन में विशेषत: रक्षाबन्धन के दिन कंजूस महाजनों का मरण होता है । इनका कौड़ी कौड़ी पर जी निकलता है, पर ब्राह्मण देवता मुसकें बाँधने की रस्सी जैसे राखी लिए छाती पर चढ़े घर में घुसे आते हैं— अगहन पूस तो मनहूस हुई है, विशेषतः धोबियों के कुदिन आते हैं । शायद ही कभी कोई एकाध दुपट्टा उपट्टा धुलवाता हो ।'

श्री प्रताप नारायण जी की तुलना इन्हीं गुणों के कारण शुक्ल जी ने स्टील से की है। स्टील में बुद्धि पक्ष की जगह हृदय पक्ष की भी प्रधानता है और इस अर्थ में प्रताप नारायण मिश्र का स्वरूप कुछ उससे अवश्य मिलता है। किंतु जहाँ तक राजनीति में पक्ष ग्रहण करने का है स्टील उतना दीप्तिवान नहीं है जितने ये हैं।

प्रताप नारायण म्यान से निकली वह चमकती तलवार हैं जो म्यान से निकल कर वहाँ जाना ही भूल गयी थी।

बाबू बाल मुकुन्द गुप्त

अंग्रेजी साहित्य की प्रौढ़ता के युग में यह स्वाभाविक ही था कि राजनीति में पत्रों का प्रमुख स्थान साहित्य और हो जाय। स्पेक्टेटर आदि पत्रों के साथ एडीसन, स्टील लैम्ब आदि प्रमुख निबन्धकार जनता के सम्मुख आये। आज भी और आज से कुछ पहले गार्डिनर और चेस्टर-टन के साथ भी यही बात सच थी। ये पत्र स्वयं सम्पादकों के अंग बन गये थे और अब उनके जीवित स्मारक के रूप में अंग्रेजी साहित्य में स्मरण किये जाते हैं।

लेकिन हिन्दी के प्रारम्भिक काल में ही कुछ साहित्यकार हमें ऐसे मिले जिन्होंने सारी असुविधाओं, विरोधों और शासन की यातनाओं के होते हुए भी अपनी आत्मा की आवाज कहीं दबने न दी। नक्कार खाने में तूती की सी भौतिक दशा में होते हुए भी उन्होंने नक्कारखाने के कटु-नाद के सामने कभी मौन ग्रहण नहीं किया। स्पष्ट ही इंगलैंड और यहाँ की स्थिति में अन्तर था इसलिये वहाँ निबन्ध कला बहुत कुछ कला हो गयी और यहाँ वह कला से अधिक तलवार बन गई।

श्री बाल मुकुन्द गुप्त ने अपनी वाणी अपनी आत्मा के पानी में

डुबाकर इतनी पैनी बना ली थी कि कहीं भी किसी भी तरह के अन्याय के खिलाफ अन्त तक उसे एक सी ही दक्षता से चलाते रहे । 'भारत मित्र' सम्पादक के मौन रहने का तो प्रश्न ही नहीं था कभी उसका गला फँसा हो ऐसा भी नहीं सुना गया । शिव शम्भु शर्मा हमारे साहित्य के एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में हमारी स्मृति में सुरक्षित हो चुके हैं । प्रत्येक प्रश्न पर उनका अपना सैलानी दृष्टिकोण एक दम अलग सा कहीं भी दीख जाता था । अधिक मास के झगड़े में उन्होंने अपना तीसरा कैम्प खड़ा किया और अपनी मस्तानी स्थिति का रूप उपस्थित किया :—

किन्तु शिव शम्भु शर्मा जी को फाल्गुन मास पसंद है । लगातार ६० दिन तक खुशी के तार बजेंगे । चारों ओर बाजों की झनकार आवेगी । भारत मित्र के दो की जगह चार रंगीन नम्बर निकलेंगे । मौज उड़ेगी ...अतः शिव शम्भु शर्मा दो होली चाहते हैं ।

वस्तुतः शिव शम्भु शर्मा, बालमुकुन्द गुप्त, यही है जो दुनियाँ को विजया से लाल रंग वाली हो गयी ।

आखों से दुनिया के देखने को नाट्य कहते हैं । किन्तु उनके हास्य के पीछे क्षोभ से तड़फड़ाता एक संतप्त हृदय भी साफ झलकता है । जैसे झीने आवरण में स्वर का कुछ छिप नहीं पाता । अक्सर ऐसा होता है कि यह सब आवरण फाड़ कार विद्रोह बाहर निकल आता है । आठ मन चावलों को जगह तुम खुश खसाली और कहर तोड़ कर जाते हो, हथियारों को आजादी को जगह दस आदमियो का मिलकर निकलना, बन्द कर दिया । अरे यार इतना तो सोचा होता कि पिजड़े में भी चिड़ियाँ बोल सकती है कैद में भी जवानी कैद नहीं होती......जमाने के बहते दरिया को लाठी मार कर कोई रोक नहीं सकता ।

किन्तु अक्सर इन सबका काम वे अपने व्यंगों से निकाल ले जाते है। व्यंगों का बचा खुचा काम मनोरम कहानियाँ और चुटकुले कर दिया करते हैं। और उन सबके साथ उनकी जो आत्मकथा होती है वह पाठक में आत्मीयता और विश्वास पैदा करता है। उनका बुलबुलों का ख्वास एक अद्‌भुत चीज है। और अपना उद्देश्य बदल देने के लिये मार्ले साहब की शिकायत भी वे कहानी के माध्यम से करते हैं।

लड़कपन में एक देहाती की कहानी पढ़ी थी। जिसका गधा खो गया था और वह एक दूसरे की गधी को अपना गधा बना कर पकड़ ले जाना चाहता था। पर लोगों ने जब कहा कि यार यह तो गधी है जिसे तूँ गधा बताता है तो उसने घबड़ा कर कहा कि मेरा गधा कुछ ऐसा बाँधा भी न था।

•• •

पिछली दो पीढ़ियाँ और आज

हिन्दी के उत्थान काल की तीसरी लहर के सभी प्रसिद्ध निर्माता द्विवेदी युग की छाया से ही बाहर निकले थे। कहीं उस छाया ने शीतलता दी, कहीं अंत तक वह अंकुरों को विकास से विरत करती रही। अंग्रेजी साहित्य की प्रतिक्रिया-जन्य साहित्य के साथ जिस तरह नयी शैली का प्रादुर्भाव हुआ था वैसा कुछ हिन्दी में इतना स्पष्ट तो नहीं दीखा किन्तु छिटफुट प्रयोग चलते रहे। आधुनिक हिन्दी के निबन्ध साहित्य के विषय में यही कहा जा सकता है। यद्यपि जमकर लिखने वाले निबन्धकार नहीं सामने आये किन्तु अच्छे निबन्ध लिखे गये। ये अकसर उन्हीं लोगों के होते थे जो और भी कुछ थे और इधर भी लिख लिया करते थे। लूकस का यह कहना यहाँ ठीक लगता है कि अभी भी साहित्यकार में अपने व्यक्तित्व के प्रति विश्वास दृढ़ नहीं हुआ था।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी पहले आलोचक और सम्पादक के रूप में सम्मुख आये और फिर उन्होंने निबंध भी लिखे इनको पाश्चात्य साहित्य के अंग उपांगों से अच्छा परिचय था और इस प्रकार के निबंधों की यूरोपीय परम्परा का ज्ञान भी इन्हें था। लेकिन इतना होने से ही रचना तो नहीं हो सकती थी। श्री बख्शी जी ने इसके साथ एक भावुक

बच्चों का सा हृदय भी पाया था। वे 'पंत' की कविता पर मुग्ध हो सकते थे, गाँव के प्राचीन विचार के रामलाल कवि की बँधी विचार धारा पर सोच सकते थे और इंगलिश साहित्य के समर्थन में लिख सकते थे। इन गुणों ने उनकी कला को जो एक एक अद्भुत अछूतापन और भोलापन दिया है वह उनका अपना गुण है। श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी के पश्चात जो युग आ रहा था उसकी शक्ति और संजीवनी की उपेक्षा करने का दोष श्री बख्शी जी पर नहीं लगाया जा सकता।

यह तो थे बख्शी जी और एक तरफ से वे रचना के इस स्वरूप पर विश्वास रखकर रचना करते भी थे। किन्तु मुन्शी प्रेमचन्द ने भी अन्त में आकर यह कहा कि 'हिन्दी में अंग्रेजी के पर्सनल एसे' जैसे कुछ नहीं दीख पड़ता, वैसा लिखो तो अच्छा। विषय की क्या कमी है! "घड़ी, छड़ी, जूता कुछ भी उठा लो।" इसी बातचीत में उन्होंने यह भी कहा था कि "मैंने" काश्मीरी सेव" लिखा है, उसे देखना"[१] काश्मीरी सेव उनकी सफल रचना है किन्तु फिर वे इसका प्रयोग नहीं कर पाये। इस शैली को एक "जबरदस्त कलम" का समर्थन मिलते मिलते रह गया, इसका दुःख सभी को होगा।

इस दिशा में सभी लेखकों ने छिटफुट प्रयत्न किया किन्तु कभी भी विशेष गम्भीरता से इसे एक रचना शैली मानकर किसी ने काम नहीं किया और न तो कहीं एक भी व्यवस्थित आलोचना ही इस पर आयी। आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी सम्भवतः पहले निबन्धकार है जिन्होंने आलोचना करते हुए व्यक्ति-प्रधान निबंधों की अलग से थोड़ी चर्चा मात्र की। किन्तु इस दिशा में उनकी अपनी एक अलग भूमि थी। चिन्ता-मणि

१—श्री प्रभाकर माचवे की इन्टरव्यू।

की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया कि 'भ्रमण के लिए निकलती रही है बुद्धि...हृदय भी साथ हो लेता रहा है।'

श्री शुक्ल जी शैली में इस दिशा से थोड़ो दूर पड़ जाते हैं। उनके ऐसे गम्भीर आलोचक को हम प्रारम्भ से अन्त तक एक चिन्तक की मुद्रा में देखते हैं। कहीं कहीं विषय स्पष्ट करदेने के लिए "जेम्स ज्वायस की "सेल्फ हेल्प" की मुद्रा में वे कथाओं और उद्धरणोंका प्रयोग करते हैं और व्यगं और हास्य को एक शक्ति के रूप में प्रयुक्त करते हैं, किन्तु अपने "रस विवेचन" "मनो विज्ञान" और "समीक्षात्मक निर्णयों" के कारण "वाल्टरपेटर" की गरिमामयी शैली के अधिक पास हो जाते हैं। न तो उनमें गार्डिनर की सी फुर्तीली शैली है और न तो व्यक्तित्व ही वैसा है। उन्हें यह होना पसन्द भी नहीं था। वे आचार्य थे और पाठक से उनकी दूरी आचार्यों की सी ही थी। फिर भी उन्हें एक ऐसा हृदय मिला अवश्य जो यदि तनिक और खुलता तो सम्भवतः पाठकों का भय दूर हो जाता। गम्भीरता के उस परम्परागत स्वरूप को देखते हुए दूसरा कुछ उनके लिए कहना ठीक नहीं होगा।

इस दिशा में कुछ ऐसे भी निबन्धकार इस युग में हुए जिनकी कला की मूर्ति अधगढी ही रही और उन्हें या तो संसार छोड़ना पड़ा या उनकी दिशा बदल गयी। श्री पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी में एक व्यक्तित्व प्रधान निबन्धकार के सभी गुण थे। उनका पण्डित्य उनकी अपराजेय आत्मा के हास्य और व्यंग को तनिक भी रोकने में समर्थ न हुआ और "कछुआ धर्म" की नयी व्याख्या ने सिद्ध कर दिया था कि उनके पास देखने का नया कोण भी था। 'उसने कहा था' का प्रारम्भिक अंश उनकी वर्णनात्मक शक्ति का द्योतक था। किन्तु ये सब कहीं भी एक साथ न

मिले और सब कुछ कह कर भी गुलेरी जी एक दम सामने आने में थोड़ा संकोच अवश्य कर गये, नहीं तो उनका सा तलवार का सा व्यक्तित्व पूरे साहित्य में खोजने से नहीं मिलेगा। श्री पूर्ण सिंह की "मजदूरी और प्रेम" की परम्परा यदि विकसित होती और 'निष्कर्ष' निकालने की वृत्ति थोड़ी कम होकर 'सच्ची वीरता' में कुछ 'अपनापन' आ गया होता तो एक रूप-रेखा बन गयी होती। किन्तु यह न हो सका। इन दो व्यक्तियों को खोकर हिन्दी ने दो ऐसे शिल्पी खो दिये जिनके ऊपर नयी मूर्ति के निर्माण का भार था। उनकी छोड़ी हुई अधूरी शैलियाँ उन आधी बनी मूर्तियों की याद दिलाती हैं जिनका एक अंग तो पूरा बन चुका है पर बाकी पर टेढ़ी सीधी छेनियों के लगाये निशान मात्र हैं, और हाथों ने काम करना बन्द कर दिया है।

इस दिशा में श्री गुलाब राय एम. ए. का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि "मेरी असफलतायें" छपी बहुत बाद में किन्तु यह वस्तु तो उनमें उनकी रचनाओं के साथ ही आयी थी। ये भी पहले आलोचक थे या दर्शन के पण्डित फिर और कुछ। कहने को तो इन्होंने 'आत्म कथा, लिखी है किन्तु वह कुछ अच्छे व्यक्तित्व प्रधान निबन्धों के सिवा और कुछ है इसमें सन्देह ही है। श्री गुलाब राय जी जैसे आलोचना में उद्धरण देते हैं वैसे ही यहाँ भी देते हैं किन्तु एक ही जीभ से आदमी इतनी भिन्न दो आवाजें निकाल सकता है यह देखने की वस्तु है। यही बात पं० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के लिए भी कही जा सकती है पर 'शान्ति निकेतन' और 'टैगोर' उन्हें भूलते नहीं इस लिए वे गुलाब राय जी से कवि अधिक हैं। 'प्राचीन और नवीन का समझौता होने पर भी द्विवेदी जी की सामने की राह साफ लगती है।

किन्तु श्री सियाराम शरण जी की शैली की सी मनोरमता अन्यत्र नहीं

मिलती। वे अपने पूरे साहित्य में जो जाड़े की धूप का सा व्यक्तित्व रखते हैं वह यहाँ आकर और निखर उठता है और बच्चों का सा (हल्ली की याद आती है) निर्दोष पर पूर्ण गम्भीर हास्य सामने आता है । उनकी 'झूठ सच' इस दृष्टि से एक ऐतिहासिक रचना मानी जानी चाहिये। शैली के साथ श्री सियाराम जी का अपना एक जीवन दर्शन भी है जो कहीं भी भुलाया नहीं गया है। तत्कालीन लेखकों में इस प्रकार की कोई स्पष्ट जीवन दर्शन की रेखा नहीं दीखती। गांधी-युग का जो भी आत्मपीड़न और वेदना का निष्कर्ष हो सकता है गुप्त जी ने उसको ही कला का स्वरूप दे दिया है। बहुत कुछ गुप्त जी ऐसा ही सीधा हृदय श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन का भी है । जैनेन्द्र जो सियाराम शरण को भिक्षु मानते हैं और भदन्त जी भिक्षु हैं ही। दोनों में समान मात्रा में पवित्रता वर्तमान है और दोनों बिना किसी धूमधाम के सामने आते हैं । यही बात कला की सूक्ष्मता की वह सियाराम शरण में अधिक है और श्री कौशल्यायान अपनी सहज करुणा और हास्य मिश्रित मुद्रा से अपनी बात बिना किसी विशेष घुमाव फिराव के कह डालते हैं। अपने को खोल कर सामने रखने की कला वे 'बुद्ध' की परम्परा में होने के कारण बिना झिचक के दिखा सकते हैं। हिन्दी साहित्य में अपने प्रगतिशील विचारों तथा निरन्तर मुस्कराते होठों के लिए भदन्त जी प्रसिद्ध हैं। उनके निबन्ध भी शुरू से अन्त तक इसी मुस्कान की छाया में लिखे गये हैं।

श्री जैनेन्द्र कुमार मुख्यतः कहानी लेखक हैं और यदि निबन्ध भी कभी कभी उन्होंने लिखे हैं तो उनमें भी कहानी का निष्कर्ष तो आ ही जाता है। यही कारण है कि जैनेन्द्र कुमार के विचारात्मक निबन्ध भी बातचीत के ढंग से प्रारम्भ होते हैं। यों मुख्यतः तो किसी भी लेखक को

केवल निबन्धकार नहीं कहा जा सकता किन्तु श्री जैनेन्द्र जी ने निबन्धों की इस दिशा में यों ही हाथ लगाया है वे स्वयं मानते है कि "निबन्ध मेरे माने का नहीं" यों वे अपना एक सोचने का ढंग रखते हैं और जब उस तरह से सोचते हैं तो अनजाने में ही एक विचित्र सा दर्द छोड़ जाते है।

हम परम्परा में सम्भवतः सबसे नये श्री सद्गुरुशरण अवस्थी हैं जिनके निबन्ध निश्चित रूप से इस कोटि में रखे जा सकते हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के कुछ निबंध "एक युग एक प्रतीक" तथा "चट्टानसे पूछ लो" इस कोटिमें आते हैं पर अक्सर वे स्केच और संस्मरण लिखते ही दिखायी पड़ते हैं।

एक तरह से इस दूसरे उत्थान में आने वाले लेखकों का हलका परिचय सामने आ चुका है। विभाजन के सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है कि द्विवेदी काल को यहां इस दिशा में मैंने अलग कोई काल नही माना है। उस युग के वे लेखक जो इस दिशा की ओर मुड़े थे वे आज भी लिख रहे हैं और आधुनिक लेखकों को उनसे आज भी उद्-भावना मिल रही है। न उनकी जड़ें द्विवेदी युग में है और न उनकी शाखा प्रशाखा का विकास और पल्लव ही उस युग में हुआ। अधिकतर ये उस मण्डल के बाहर रहने वाले थे।

यही स्थिति बालमुकुन्द गुप्त की कोटि के लेखकों की थी। वे यद्यपि द्विवेदी युग में ही के किन्तु अपने स्वरूप में वे भारतेन्दु युग के प्रतिनिधि थे।

इस प्रकार हम देखते हैं "व्यक्तित्व प्रधान" निबंधों के दो ही काल हमारे सम्मुख हैं। तीसरा उत्थान उन एकदम आधुनिक लेखकों का है जो अभी भी अपने को पिछली छाया से मुक्त नहीं कर पाये हैं। ये लेखक और

पुराने भी सभी एक साथ ही हिन्दी में लिख रहे हैं। अन्तर के नाम पर जीवन दर्शन में अन्तर आया है।

जीवन दर्शन का सम्बन्ध युग की प्रचलित विचार धारा के साथ भी रहता है। एक युग पहले के लेखकों पर गान्धी, रवीन्द्र या इसी तरह के दार्शनिकों का प्रभाव था। पुनर्जागरण की भावना और सांस्कृतिक तथा आत्मिक विकास की भावना परीधीनता की काली छाया में भी कार्य कर रही थी। इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा और अपने ढंग से ऐसे लेखको ने इन समस्याओं पर प्रकाश डाला। इस दिशा में श्री माखनलाल चतुर्वेदी का उल्लेख विशेष रूप से किया जायगा।

किन्तु एक नया लेखक दुनिया के सम्बन्ध में अब उतना आध्यात्मिक दृष्टिकोण नहीं रख रहा है। उसे पश्चिम के सिद्धान्तों की लहरों पर तिरना अच्छा लग रहा है। नयी पीढ़ी का अधिकांश इस ओर बढ़ रहा है। और जैसा मैंने पहले प्रवृतियों के विवेचन के समय कहा था कि आज का व्यक्तित्व-प्रधान प्रबन्धों का वही कारण नहीं रह गया है जो इंगलैन्ड की १८ वीं और १९ वीं शती में था और न तो वे भारतेन्दु युग की उलझन और खीझ के वातावरण में लिखे जा रहे हैं। यहां आक्रोश है तड़पन है मुक्त होने की इच्छा है किन्तु साथ ही ऐसा नहीं है कि रास्ता साफ न हो। आज का मनुष्य बहुत कुछ जान गया है और इतिहास समाज और मनः प्रदेश की पीठिकाओं पर अपने को अवस्थित करके वह निश्चित उत्तर पाने के लिए झुका हुआ है। भारतेन्दु-युग और छायावाद युग के पश्चात् प्रगतिशील युग का यही मतलब है कि स्थिति के सम्बन्ध में सन्देह न रह जाय। लेकिन जान लेने के पश्चात् ही तो काम समाप्त नहीं हो जाता। जान लेने के माने होते है निराकरण के

लिए प्रयत्न और आधुनिक लेखक जानता है कि यह प्रयत्न ही संघर्ष की भूमिका है। हम हिन्दी साहित्य में आज ऐसी परेशानी और दुश्चिन्ता का रूप स्पष्ट देख सकते हैं।

लेकिन यह केवल नयी पीढ़ी का ही चिन्तन हो सो बात नहीं है। यह तो एक युग की वस्तु है इसलिए जो जीवित हैं वे सब सोचने को बाध्य होते हैं। केवल इसी एकता के कारण मैंने किसी विभाजक रेखा का नहीं दिखलाया है।

इन आधुनिक लेखकों में पहला नाम लक्ष्मीकान्त झा का आता है। सम्भवतः हिन्दी में यही एक लेखक हैं जिनकी रचनाएं व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध के शीर्षक के साथ पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। पुस्तक का "मैंने कहा" नाम भी इस दिशा में प्रकाश डालता है और भूमिका में भी लेखक अपने को इस श्रेणी का स्वीकार करता है।

दूसरा नाम इस दिशा में श्री प्रभाकर माचवे का है। ये अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध हैं पर नवीन के प्रति इनका विश्वास इन्हें बाध्य करता है कि ये वस्तुओं को एक ओर खड़े होकर देखें। इनकी कोई भी पुस्तक प्रकाश में नहीं आयी है किन्तु पत्रपत्रिकाओं में कहीं भी इनका सबसे अलग सुन पड़ता स्वर सुना जा सकता है। श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त तथा रांगेयराघव ने भी अपने संस्मरणों और स्केचों में कुछ ऐसा लिखा है जिसे इस सीमा में लिया जा सकता है। काशी के श्री अशोक जी (आज कल स्वतंत्र भारत के सम्पादक) अपने व्यंगात्मक निबंधों के लिए काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। इस दिशा में उनका 'तोंद' निबंध उल्लेखनीय है। उसमें स्टीवेन्सन की सी दृष्टि साफ दीखती है। स्वयं वे निबन्ध के इस रूप के प्रति पूरे विश्वासी हैं।

इस धारा में एकदम नये लेखकों की एक बड़ी संख्या आ रही है किन्तु उसका स्वर अभी उतना स्पष्ट नहीं हो सका है। हास्य व्यंग के कारण भी बहुत से लोग इस दिशा में थोड़ा ही रहकर हट गये हैं और उनके "मैं" का कोई व्यक्तिगत रूप न रहकर साधारणीकृत हो गया है। आधुनिक रचनाओं के "मैं" पर इसी कारण विश्वास नहीं किया जा सकता।

आज की इस 'मैं' की स्थापना को रोमान्टिक युग के मूल्यों में नहीं लेना है। आज साहित्यकार का मैं उसके पूरे वर्ग का प्रतीक बनकर सम्मुख आ रहा है। हम अब विवेचना के साथ यह भी देख रहे हैं कि कलाकार का मैं एक शोषितवर्ग के व्यक्ति का 'मैं' है या एक शोषकवर्ग का 'अहं' है। इसी विभाजन से कला की अभिव्यंजना की रचनात्मिका तथा ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों का विवेचन होगा। वर्गों में बंटी दुनिया के व्यक्ति का यही आत्माभिव्यंजन होगा नहीं तो माल्टेन आदि के अपने को स्पष्ट करने के कथन का कोई प्रायोगिक रूप न रहकर मात्रा छायाओं का संघर्ष (सेल्यूर-एक्शन) ही रहेगा।

इस प्रकार हमारा यह विवेचन समाप्त होता है। आगे कुछ प्रमुख लेखकों का विशेष परिचय दिया जायगा और देखा जायगा कि कितनी दूरतक वे निबन्ध की परिभाषा में आते हैं और कितना उन्होंने उसमें अपना जोड़ा है। साथ ही शैलियों के जो विभिन्न प्रयोग हिन्दी में किये जा रहे हैं उनपर अब यही विचार होना चाहिये। पहले उत्थान में शैली (टेकनीक) के ये प्रयोग स्पष्ट नहीं हुए थे किन्तु द्वितीय उत्थान की बहुत सी रचनाओं का निर्णय बिना इस विवेचन-क्रम के होना मुश्किल होगा।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ।

श्री बख्शी जी की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी मधुर, सरिता की भाँति शीतल गति । भाषा की इस गति से सब कहीं उनका सुशासित और मोहक व्यक्तित्व घुला मिला रहता है, ठीक रैदास भगत के प्रभु की तरह जैसे पानी में चन्दन हो । बख्शी जी सब कहीं एक कवि की सरल दृष्टि से ही देखते हैं, और यंत्रतंत्र व्यंग और हास्य का मर्यादित रूप उतना ही रहता है कि ओठों तक ही हँसी रहे अधिक आने न बढ़े । इंगलिश के प्रसिद्ध निबन्धकार एच. जी. गार्डिनर की बात वे अक्सर करते हैं और स्वयं बहुत कुछ वैसे ही हैं । किन्तु कविता का अंश कुछ आप में प्रमुख है । गार्डिनर कहीं कहीं तार्किक हो जाता है, पर बख्शी जी ऐसा नहीं करते । अक्सर लड़कों के वातावरण से लिखे गये निबन्धों में सभी गुणों के साथ सरलता भी है ।

इनके निबन्ध—शैली की विशुद्धता की दृष्टि से—अंग्रेजी निबन्धों की सी सफाई और संजीवनी संयुक्त है और अक्सर उसी गीतिकाव्यों की रुचि से आप लिखते भी हैं :...

"औरे रस औरे रीति औरे राग औरे रंग
औरे तन औरे मन औरे बन है गयो ।

वह मार्च का महीना था । पंडित जी के इस कवित्त ने मेरे भी हृदय पर आघात किया । वही मधुमास है, वही श्री है, वही सौरभ है वही उल्लास है । वही चिर नवीना प्रकृति है तो भी ऐसा जान पड़ता है, कि सब कुछ बदल गया है, क्योंकि मैं अब वह नहीं हूँ जो पहले था । उसी समय वसन्तकालीन पवन का एक झोंका आया । तरुणों के हृदय में

उल्लास पैदा करने वाली पवन के उस शीतल स्पर्श से मैं काँप उठा। तब मुझे ज्ञात हुआ कि मैं अब वृद्ध हो चला हूँ।"

......रामलाल पंडित......

इंगलिश साहित्य में तो यहाँ तक व्यवस्था है कि कुछ भी अपने सम्बन्ध में कहा जाय। अगर कुछ नहीं है तो यही लिखा दिया जा सकता है कि क्यों कुछ नहीं है। श्री बख्शी जी की 'क्या लिखूं' भी इसी कोटि की एक अद्भुत रचना है, जिसमें दो निबन्धों पर एक साथ ही विचार करने वे बैठते है पर विचार कर डालते हैं अपने पर ही। 'दूर के ढोल सुहावने' पर लिखने बैठते हैं पर सोचते हैं :

'दूर के ढोल सुहावने तो होते हैं पर क्या वे इतने सुहावने होते हैं कि उन पर पाँच पेज लिखा जा सके।'

एक मधुर व्यंग का वातावरण केवल एक पंक्ति में बनाकर वे यहाँ से आगे बढ़ गये हैं और चेस्टरटन की मीलित शैली की हलकी झलक पीछे छोड़ जाते हैं। पूरे निबन्ध में वे दो विरोधी विषयों को एक साथ संभाल कर समाहार सा करते दीखते हैं जो उनको विशेषता है। निबन्धकार का कर्त्तव्य यूलिसिस के धनुष सा कष्टसाध्य हुआ करता है क्योंकि निबन्ध की कला पर पूरा अधिकार पाना मुश्किल होता है। बख्शी जी में हम जो निश्चिन्तता की विचार धारा का विश्वस्त रूप देखते हैं, उससे विश्वास होता है कि निबन्ध का धनुष इनके लिये शंकरचाप तो नहीं ही रह गया था।

स्वयं को उन्होंने लड़कों के बीच अवस्थित कर दिया था और इस प्रकार अपने अमिला के मोहन बनकर उनके साथी बन गये थे। अक्सर इसी कारण उन्हें हम बालकों के साथ बातचीत करते और उन्हीं की दृष्टि से सोचते देखते हैं। इस कारण शैली की सरलता और अपने को

सामने रखने की कला दोनों में वे पारंगत दीखते हैं, पर कहीं कहीं वैषम्य की ओर निगाह जाने पर एकाएक अन्तर की बात भी वे सोचते हैं। उत्सव की बात सोचते सोचते एकाएक गम्भीर हो जाते हैं :—

"उनके लिए वर्षा सुख सौरभ लाती है पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इस शीतल शरीर में किसी का वेदना पूर्ण निःश्वास भी विलीन है। मेघों के इस गम्भीर गर्जन के साथ किसी की हाहाकार ध्वनि भी उठी है। मुझे यह श्यामघटा सुखद नहीं लगती मुझे यह आमोद प्रमोद अच्छा नहीं लग रहा है। तो भी मन की व्यथा को दबाकर सब लोगों से मिलता हूँ, हँसता हूँ बोलता हूँ, और सभी काम करता हूँ।"

......उत्सव......

निबन्धों का प्रारम्भ अक्सर कथा से करके वे गार्डिनर की भाँति ही प्रतिपाद्य की ओर धीरे धीरे बढ़ते हैं। एक हलका सा संकेत पूरी रचना में वर्तमान रहता है जो अन्तिम पंक्तियों में निर्दिष्ट स्थल पर पहुँचा देता है। 'एक पुरानी कथा' में जो काम कहानी से लिया गया है वही काम 'समाज सेवा' में स्वयं अनुभूत घटनाएँ करती हैं। दोनों शैलियों का विकास आज चरम सीमा तक पहुँच चुका है। ऐसी शैली को सरस्वती में छपे संत निहाल सिंह के लेखों से बहुत बल मिला।

एक हलका सा विषय लेकर अपनी अनुभूति का ऐसा स्वरूप रखेंगे कि वह पाठकों को भी समर्थक बना लेगी, नहीं तो उनका 'नाम' के प्रति ममता का व्यक्तिगत अर्थ के सिवा और कुछ अर्थ नहीं हो सकता। वे नाम न बदलने का विश्वास के साथ प्रतिपादन करते हैं पर तर्कों की जगह वे स्वयं अपने को ही ईमानदारी से उपस्थित कर देते हैं। बदले हुए नाम को वे नहीं मानेंगे :—

"किसी एक नाम को स्वीकार कर लेने पर उक्त नाम के गौरव भार से मेरा सारा जीवन ही दब जायगा। मैं सांस भी नहीं ले सकूंगा। मुझे तो यही अनुभव होता है कि सारा संसार मेरी ओर ताक रहा है। कहां जाकर मैं अपना मुंह छिपाऊं .....अब मैं ऐसा बन गया हूँ कि पदुम की जगह पद्म का लावण्य मेरे जीवन रूपी काले कम्बल में हलकी सी चमक लाकर मुझे सभी लोगों के उपहास का पात्र बना देगा।"

......नाम.

उनकी यही सरलता उनके जीवन की सबसे बड़ी पूंजी है, जिसे वे निबन्धों की राह पार करते कहीं भी पात्र कुपात्र का ध्यान किए बिना ही बिखेरते चलते हैं। यदि ऐसा न होता तो शैली की ताज़गी भी कपूर की तरह उड़ गयी होती।

गुलाब राय एम० ए०

श्री गुलाब राय की पुस्तक का शीर्षक "मेरी असफलताएं" ही कह देता है कि लेखक ने अपने को बिना किसी छाया या कुहरे में छिपाये उपस्थित कर दिया है। यों तो अपनी पुस्तक को वे आत्मकथात्मक कहते हैं पर घटनाओं का क्रमिक विकास न होकर यह भिन्न वस्तुओं के साथ उनके सम्बन्धों का एक 'अलबम' बन गया है। प्रथम पुरुष से कहा गया सभी कुछ व्यक्ति प्रधान निबन्धों में न आवे, किन्तु जिस शैली का चमत्कार वे पग पग पर दिखा रहे हैं वह स्वयं व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध की है।

गुलाब राय जी बख्शी जी के दूसरे पक्ष के वे लेखक हैं जिन्हें यह विश्वास होता है कि पाठक मेरी रचना पढ़ने के पहले प्राचीन वाङ्मय दर्शन और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के साथ उनकी रचनाओं से पूर्ण परिचय स्थापित कर लें। उद्धरणों और स्वयं निर्मित (Selfmade)

मुहावरों के कारण उनकी शैली कहीं कहीं इतनी गम्भीर और गूढ़ हो जाती है कि बिना उसकी तह तक पहुँचे न तो व्यंग और हास्य समझा जा सकता है और न तो उक्ति का पूरा भाव ही खुल पाता है। किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ शैली बड़ी ही मनोरम और हास्य पूर्ण हो जाती है। स्वयं गुलाब राय जी ने ही मुझे एक पत्र में लिखा है कि मेरे हास्य रस में साहित्यिकता अधिक रहती है। धौल, धप्पा, गिरने-पड़ने और घसीटने वाली हास्यमय परिस्थितियों के उत्पन्न करने में असफल रहता हूँ। उर्दू फारसी के शब्द और मुहावरे भी कभी कभी पूर्व जन्म में किये पुण्य के समान सहायक होते हैं"। निश्चित ही गुलाबराय जी इस प्रकार के व्यंग और हास्य को लिए हुए एक दम अकेले खड़े हैं। लैम्ब में भी उद्धरण बहुलता है और हिन्दी में श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी में इस कला का सुन्दर विकास हुआ है। श्री गुलाबराय जी स्वयं उसका क्रम भी लिखते हैं "मुझे हास्य का पुट दे देने से उतनी ही खुशी होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारों को एक अक्षर या मात्रा के बचाने से......इससे मुझे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता किन्तु अब मैं अपने हास्य की टेकनीक समझ गया हूँ और कभी कभी उसे सप्रयत्न उपस्थित कर सकता हूँ...... मैं कहावतों और संस्कृत के अवतरणों से अपने मतलब के अनुकूल हेर फेर कर एक सुखद परिवर्तन पैदा कर देता हूँ। 'योगेनान्ते तनुः त्यजाम्' का रोगेणान्ते तनुःत्यजाम्' हो जाता है। मेरी शैली में बहुत से दोष भी है......सरल भाषा को गौरवशालिनी बनाना मुझे नहीं आता ......इसी से भाषा में शैथिल्य आ जाता है या वह पांडित्य से बोझिल हो जाती है और कभी कभी उससे कृत्रिमता की गन्ध आने लगती है।

किन्तु तन सबका लक्ष्य होता है किसी भी प्रकार अपनी कहने की बात को पाठक लायक बना कर उपस्थित करना।" मैं कहने के लिए

पहले तथ्य की बात ढूंढता हूँ और उसे येन केन प्रकारेण पूर्णतया हृदयंगम कराने का प्रयत्न करता हूँ। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूं। यही मेरी कलम का राज़ है।"

श्री गुलाब राय जी किसी भी वस्तु को ऐसे ढंग से रखते हैं कि उसमें एक चमत्कार आ जाय। यह प्रयत्न उनकी ओर से जानबूझ कर किया जाता है।...

"यदि किसी को जेल जाने की सामर्थ्य हो तो चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नहीं क्योंकि इसमें सरकार की मदद रहती है।"

"मुझे दरसल राजा और रोग तो नहीं सताते किन्तु मधुमेह का राज रोग अवश्य तंग करता है।"

मेरे रोगों की गणना तो निःशेष नहीं हुई किन्तु आप लोगों का जी इस करुण कहानी को सुनते सुनते अवश्य ऊब गया होगा इसलिए लोकानुग्रह काम्यया मैं लेखनी को विराम देता हूँ .....इतने रोगों के होते हुए भी मैं विश्राम की जीवन मृत्यु को स्वीकार न करूंगा। जब तक जीवन दीपक में स्नेह है तब तक काम चलता ही रहेगा। यावत् तैलं तावद्व्याख्यानम्।"

अन्त से आते आते एकाएक गम्भीर हो जाने से एक अलग वातावरण बन गया था पर अन्तिम व्याख्यान वाले व्यंग ने उस गम्भीरता का रंग ही बदल दिया।

स्वयं गुलाब राय जी के जीवन का भी यह क्रम है। उनकी पूरी गाथा ही ऐसे ही गम्भीर और हास्य के विरोधी रंगों की चित्रशाला सी सामने आती है, वह पूरी दूरी तक साथ चलने से लगता है कि स्वयं चाहे जिस परेशानी में वे रहें पर अपने आसपास वालों की मुहर्रमी सूरत वे बरदाश्त नहीं कर सकते। आसपास से मेरा मतलब उनके पाठकों से ही है।

श्री सियाराम शरण गुप्त।

अभी उस दिन दिल्ली रेडियो स्टेशन से श्री सियाराम शरण गुप्त और श्री जैनेन्द्र कुमार की एक बातचीत प्रसारित की जा रही थी । श्री सियाराम शरण इस बात पर अधिक जोर दे रहे थे कि एक बूँद आँसू जो बाहर निकल आता है वह व्यर्थ जाता है । अगर वही भीतर जाय तो जीवन को एक अद्भुत पीडामयी दृष्टि सौंपे और इस वेदना के जल से व्यक्ति स्वयं कितना पवित्र हो उठता है इसकी तुलना नहीं।

श्री सियाराम शरण गुप्त की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सजलता और यह स्वयं उनका ही गुण है । कहीं भी वे अपनी पंक्तियों से दूर नहीं होते और स्वयं छिपे रहने की उनकी आदत नहीं है इसलिए उनके साहित्य के पढ़ने का एक ही अर्थ होता है, सियाराम शरण को पढ़ना। वाल्ट व्हिटमैन की Comrade, it thou toucheth a book, toucheth a man' वाली युक्ति जितनी सच स्वयं इनके साथ है उतनी हिन्दी में और किसी के साथ नहीं है। स्वयं सियाराम शरण जी अपने को इन्हीं रचनाओं में जीवित मानते हैं :......

"मेरी रचना...मुझ में प्रतिफलित होती है और मैं उसमें। उसे देखकर मुझे देखा जा सकता है और मुझे देखकर उसे। न वह मुझसे अलग न मैं उससे।

लेखक और उसकी रचना का सम्बन्ध ऐसा ही होना चाहिये यह स्वाभाविक है...कहने की जैसी अब भी कमी रह गयी...वे है एक ही व्यक्ति की दो आँखें।

अपनी कोई पुरानी कृति पढ़ रहा था। पढ़कर एक नया अनुभव हुआ। जान पड़ा उसमें मैं सुरक्षित हूँ। मिस्र देश की एक ममी अजायब

घर में देखी थी। वह एक पुराना शव था...पर आज अपनी उस कृति को देख कर उछल पड़ा। उसमें मुझे अपने अतीत की उपलब्धि हो गयी...अतीत को या तो समाधि के पत्थर के नीचे सड़ना पड़ता है, या फिर वह चिता की राख बन कर उड़ जाता है...पर मेरा अतीत मेरी उस कृति में जीवित था। उसके मुंह पर मुसकुराहट थी। ताजगी थी। वह भूत न था, उसका श्वास संचार मुझे स्पष्ट सुनाई और दिखाई पड़ रहा था।" साथ ही उनका यह सब कुछ निवेदन भी उसी को लिए होता है जिसे वे समझते हैं कि वह उनके मन का दर्द समझेगा। अपनी रचना के समर्पण में एक जगह उन्होंने बन्धुजनों को देने का निश्चय घोषित किया है। पाठकों को वे प्रत्यक्ष रूप में बचा ले गये हैं पर अप्रत्यक्ष रूप में उन्होंने पाठक के लिए बन्धुजन होने की शर्त ही लगायी है। इस-प्रकार उनका निवेदन भी उनकी अपनी पीड़ित आत्मा का दर्शन ही बन गया है। ठेस से वे डरते नहीं पर जान बूझ कर उपेक्षा की ठेस से स्वयं उलझते रहने का उत्साह भी वे नहीं दिखाते :—

"प्रसंग वश ही बीमारी की यह बात यहाँ आ गयी है। बीमारी की बात कह कर पाठक को, निर्णायक को, मुलायम करके पक्ष में कर लेना वैध नहीं है। परन्तु यह सच है कि यह सब पाठक के लिए नहीं, बन्धु-जनों के लिये प्रस्तुत किया गया है। अपरिचितों में भी वे बड़ी संख्या में मिल सकते हैं। बन्धु के लिए, सुहृद के लिए, आत्मीय के लिए परिचय की शर्त नहीं होती। इसी से इन रचनाओं में जहाँ तहां निजी बातें मिलेंगी।"

उनकी ये निजी बातें तो हमें हर जगह मिलती हैं और इतने सीधे वे हैं कि यह भी कह डालते हैं कि यदि नहीं कर सका तो क्यों नहीं कर सका। बैठे हैं लिखने, सुनाने के लिए उन्होंने श्रोताओं को आमन्त्रित

किया है, श्रोता आकर बैठे हैं और कहानी कहने की जगह आपने कहना शुरू कर दिया है :—

"दो तीन दिन से लगातार एक भाव का पीछा कर रहा था बहुत दूर तक जब उसके पीछे दौड़ चुका तो आज एकाएक मालूम हुआ कि मुझे धोखा दे कर बीच ही में वह हाथ से निकल गया है।"

इतनी सूचना दे देने के बाद वे मानो कह देते हैं कि यह तो कुछ नहीं है। किन्तु यह बैठक उठती नहीं। वे अपनी बात कहते हैं और श्रोता पहले से भी अधिक तन्मय हो जाते हैं :—

जो शक्तिमान है उन्हें वर्तमान के तैयार सौदे की अपेक्षा भविष्य के वायदे के सौदे में ही लाभ है। उनके लाभ का हिसाब आज की मिती के रंगे हुए काले पृष्ठ पर नहीं मिल सकता वह उनकी रोकड़ बही में कल परसों अथवा उसके आगे के किसी उज्ज्वल पृष्ठ पर ही अदृश्य की स्याही से अंकित है।

परन्तु एक फेरीवाला है। आने दो आने कि मूंगफली अथवा और कुछ ले कर वह इस मुहल्ले से उस मुहल्ले में दिनभर चक्कर लगाता फिर रहा है। अपने व्यवसाय का लाभ इसे आज ही चाहिये। भूत और भविष्य के अभिन्न संगियों से विलग होकर इसका यह 'आज' यहाँ अकेला पड़ गया है। समय के स्वामी के यहाँ इसका स्थान एक दैनिक मजदूर का है किसी स्थायी पद का आश्वासन उसे नहीं मिल सकता..."

"अपने जीवन व्यापार में मेरी हैसियत भी इसी फेरीवाले जैसी ही है।"

यहाँ तक चली आती उनकी उपमा यहाँ आकर एक नया अर्थ दे डालती है। वे मानते हैं कि फेरीवाला चक्कर लगाता रहा है, न यह भाव ठीक हुआ वह ही सही। इन भावों की दौड़ धूप और मोलचाल वे

भन्य विषयों तक ही सीमित नहीं रखते। वे मानते हैं कि "ऊपर से सम्भ्रान्त सा दिखाई देने वाला व्यक्ति कुछ लेता देता नहीं और अचानक अकिंचन प्रतीत होने वाला कोई अन्य व्यक्ति मुट्ठी एक दम गरम कर जाता है।" इस प्रकार के निबन्ध लेखकों की इस प्रवृत्ति का कारण स्वयं उनका दृष्टिकोण ही है। चेस्टरटन ने भी एक स्थल पर कहा है कि अक्सर मुझे बड़े बड़े विषय कुछ नहीं दे पाते और तृप्ति से अधिक देने वाले विषयों को मैं जहां कहीं भी पा लेता हूँ। जैनेन्द्र जी को भी १५ अगस्त की धूमधाम में लिखने लायक कुछ नहीं मिला पर वही उत्सव देखने के लिए कोसों दूर से आए एक परिवार ने अलीबाबा के एक मन्त्र की भाँति उनके मन के द्वार खोल दिये।

यह जो दृष्टिकोण का नाम ऊपर आ गया वह और स्थानों पर चाहे उपेक्षित कर दिया जाय किन्तु श्री सियाराम शरण गुप्त के यहां उसका पहला स्थान है। जैनेन्द्र जी ने उनके इसी पक्ष को अलोचना करते हुए उन्हें कुछ की संज्ञा भी दे डाली है। किन्तु मैं समझता हूँ कि जैनेन्द्र और इनमें केवल अभिव्यंजन का अन्तर है नहीं तो दोनों की दुनिया देखने की दृष्टि बहुत कुछ एक ही है। यहां यदि कहा जाय कि दोनों गान्धी जी की छाया में हैं तो अत्युक्ति न होगी।

किन्तु बात केवल एक की है इसलिए एक की ही होनी चाहिये श्री सियाराम शरण जीवन में और जीवन के अपने निर्णयों में एक गान्धीवादी ही हैं। उसके पास आँसू का, चाहे वह अपना हो या दूसरे का, उतना अधिक महत्व है कि वही उनकी शक्ति बन गया है। करुणा के लिये उनके मन में पूरा स्थान है और वे आज की मशीन जन्य करुणा से घबड़ा गये हैं..."ग्रामोफोन की चूड़ी की तरह एक क्षण भर रो गाकर हमारी करुणा चुप हो जाती है। उसमें हृदय का स्पन्दन नहीं होता।"

जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रत्येक स्थल पर उन्हें एक ही तरह सोचने को ललकारता है। "सुविधा" सब खोज रहे हैं पर आखिर इसका लोभ किस लिये ? हमारे पैर है इसलिए संसार में दुर्गमता की भी आवश्यकता है। हम उस दुर्गमता को किसी की गोद में बैठ कर पार कर ले इससे बड़ा अपमान पैरों का क्या होगा ?" सभी बातों के विषय में इसी कारण उनकी राय अलग होती है। इस तरह से केवल गान्धी जी सोचते थे। जिन मानवतावादी लेखकों ने इस दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा साहित्य और दर्शन में की है वे दुनिया को न तो तमाशा मानते हैं और न तो सुविधा के लिए मानते हैं। मान्टेन ने एक स्थल पर कहा था कि "मृत्यु हमें कहीं रास्ते में बैठे बिठाये न घेर ले। हमें रास्ता चलते ही उसके परिचय में आना है।"

यह सत्य व्यक्ति की नैतिकता से सम्बन्धित है और एक व्यक्ति की आवाज उठाने वाले लेखक या दार्शनिक को आत्मप्रकटीकरण का सबसे अच्छा साधन यही शैली है जो इस प्रकार के निबन्धकार अपनाते हैं। एक साहित्यकार ने तो कहा था कि गान्धी जी भी एक अच्छे व्यक्तित्व प्रधान निबन्धकार से ही लगते हैं। इसका कारण यही था कि यहाँ केवल शैली का ही प्रश्न नहीं उठता, उसके साथ जो व्यक्ति आता है उसी का महत्व है।

श्री सियाराम शरण जी बड़ी आयु भी नहीं चाहते। उनका विश्वास है कि राम को रावणों की भांति चिरजीवन का वरदान लेने के लिए विधाता के द्वार पर धरना नहीं देना पड़ेगा। एक लड़के की मृत्यु पर उसका नाम काट कर मास्टर ने तो छुट्टी देदी पर वे उसकी माँ के साथ सोचते हैं कि "क्या उसे छुट्टी मिल गयी ?" लड़के का नाम गोपाल है

उन्हें ब्रज के गोपाल का ध्यान आजाता है। उसने भी तो छुट्टी ले ली थी पर यशोदा के मन ने क्या वह दे दी थी? इस कल मर गये गोपाल को भी कैसे भूला जाय :—

"वह गायो के लौटने का स्वर सुनाई पड़ता है। सन्ध्या हो आयी है। थनों में दूध भर कर बच्छो की मातायें दौड़ी आ रही है। मार्ग में गोधूली फैल गयी है। अन्धेरा होने लगा है। बच्चे मदरसे से लौट कर घर आ रहे हं। घर घर में सन्ध्या के दीपक जाग उठे हैं। सब कुछ हुआ पर वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसकी पोथियों का बस्ता बँधा पड़ा है। मदरसे में किसी ने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है, बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय पट पर अब भी स्थान है। वहां वह अंकित है। वहाँ से उसे छुट्टी नहीं मिल सकती।"

—छुट्टी

यहाँ आकर रचनाकार से एक शिकायत होती है। बन्धुजनों को अपनी पीड़ा देते-देते जो वह दुनिया भर के आँसुओं का बोझ दे दे रहा है वह तो कभी-कभी असह्य भी हो जा सकता है। किन्तु उन्हें तो धीरे-धीरे विश्वास हो गया है कि ऐसा ही करो, कोई शिकायत की बात नहीं :—

"वर्तमान लेखक ने अपना रास्ता खोज लिया है। वह जब दूसरों को सन्तोष देने से असमर्थ है, तब वह आज अपने आप ही को सन्तुष्ट और हलका बनावेगा। कितने ही बन्धुओं के अनुग्रह का ऋणी होने का ही आनन्द मना लेगा—पर मैं दिवालिया नहीं हूँ। अन्ततः ऐसा न हो जाऊँ प्रयत्न मेरा यही है।"

—ऋणी

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने प्राचीन ज्ञान और नवीन अनुभवों का संतुलन अपने जीवन में बना लिया है। उनकी इसी विशेषता के कारण उनमें एक व्यक्तित्व प्रधान लेखक के सभी गुण आ गये हैं। श्री गुलाब राय जी की उद्धरण-बहुल शैली में जहाँ एक ओर कविता का अभाव है वहाँ द्विवेदी जी पूर्णतः कवि भी है। वे ऐसी जगहों पर काफी देर रुक जाया करते हैं जहाँ उनका उड़ता हुआ मन तनिक देर के लिए आश्वस्त हो जाय। 'अशोक के फूल' का चिंता में उन्होंने अपनी पूरी दुपहरी गँवा दी है। वे सोचते हैं :—

"भुलाया गया है अशोक, मेरा मन उमड़ घुमड़ कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है। क्या यह पुष्प भुलाने की चीज है, सहृदयता क्या लुप्त हो गयी? कविता क्या सो गयी?" यहाँ आते आते वे एकदम रूप विभोर हो जाते हैं। "अशोक स्तवक का हर पत्र इस विचित्र परिणति की परम्परा ढोये आ रहा है। कैसा झबरा सा गुल्म है!"

लेकिन अशोक के प्रति उनकी यह ममता उन्हें विभोर कर वहीं खड़ा नहीं रहने देती। वे आगे बढ़ते हैं और अपना तथा समाज का विवेचन प्रारम्भ हो जाता है। गार्डिनर भी मानता है कि इस प्रकार के निबंधों में विषय का इतना ही महत्व है कि उस पर अपने विचारों को खूँटी पर कपड़े की तरह टाँगा जा सके। द्विवेदी जी का भी अशोक के प्रति अनुराग कुछ कहने के लिए ही है। टैगोर की एक कविता में एक व्यक्ति राज-द्वार पर चित्रित कला देख कर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे सब कुछ

भूल जाता है लेकिन कवि कहता है कि राज-द्वार की सुन्दरता का महत्व इतना ही है कि उससे आगे बढ़ने वाले रास्ते का सम्मान बढ़ता है इसलिये यहाँ रुकना ठीक नही है।

उसी प्रकार द्विवेदी जी का अशोक स्तवकों का आवरण हटा कर भूत-काल का मोह उन्हें रोकता नहीं है अपितु आगे बढ़ाता है। वे भविष्य की ओर देखते हैं और चिंतित होते हैं यहाँ तक कि अशोक का फूल उनकी विचारधारा में आ गयी एक रुकावट की तरह जल को क्षुब्ध भी कर देता है। वे सोचते हैं "मगर उदास होना भी बेकार है। अशोक आज भी उसी मौज में है। बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो वह भी न बदलती। पुराने चित्त से इसको देखने वाला उदास होता है। वह अपने को पंडित जो समझता है" यहाँ तक तो विषय का थोड़ा आभास मिलता है पर इसके बाद वे एक दम निर्णायक की सी गम्भीरता से कहते है "पंडिताई भी एक बोझ है! जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबाती भी है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तब वह बोझ नही रहती। उस अवस्था में वह उदास भी नहीं रहती।"

और यह एक लेखक का स्वयं अपना अनुभूत भी है। द्विवेदी जी में इस प्रकार के निबंध लेखक के सभी गुण देखे जा सकते हैं। किन्तु एक बात इस निबंध में अब भी नही आ सकी है। खास कर अधिक कविता होने के कारण, रीड के शब्दों में कुछ धुन्धली हो गयी है। वह है अपने को उपस्थित करने की वृत्ति जो 'बसन्त आ गया है', निबंध मे काफी स्पष्ट रूप से उभरी है। दूसरा गुण व्यंग है जो द्विवेदी जी के जीवन के साथ इतना घुला मिला है कि उसके बिना अपनी सारी गम्भीरता और अध्ययन के रहते हुए भी वे पूरे नही लगते। गम्भीर से

गम्भीर स्थानो पर जहाँ एक क्षण पहले कविता के मेघ घिरे रहते है वहाँ एकाएक हास्य की धूप चमक उठती है। गार्डिनर के, 'बस कन्डक्टर' की भाँति द्विवेदी जी का यह प्रयत्न रहता है कि वे जहाँ रहते हैं किसी को बहुत देर तक गम्भीर मुख मुद्रा बनाये बैठे रहने नही देना चाहते। उनके ये गुण एक ही जगह देखे जा सकते हैं। एक मरियल काँचनार को सिर से पैर तक पुष्पित देख कर वे कमल उठा लेते हैं और धीरे धीरे स्वयं अपने को उसी की बगल में खड़ा कर एक काँचनार की ही तरह अपना भी लेखा ज्योढ़ा हमारे सामने पेश कर देते हैं। "सबके सब वृक्ष बुरी तरह चुप हैं: कहीं भी उल्लास नहीं पर कवियों की दुनिया में हल्ला हो गया। प्रकृति रानी नया शृंगार कर रही हैं और फिर न जाने क्या? कवि के आश्रम में रहता हूँ नितान्त ठूंठ नही हूँ पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे?

पढ़ता लिखता हूँ यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे थोड़ा बहुत जानता हूँ। पढ़ा है हिन्दुस्तान के जवानो में कोई उमंग नहीं है। इधर देखता हूँ कि पेड़ पौधे और भी बुरे है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया पर इन कम्बख्तों को खबर ही नहीं। थोड़ी दूर पर वह पलाश ऐसा फूला हुआ है कि ईर्ष्या होती है मगर उसे किसने बताया कि बसन्त आ गया। मैं थोड़ा थोड़ा समझ सकता हूँ। बसंत आता नहीं ले आया जाता है। यह मरियल काँचनार ले आया है। अपने मोटे राम तैयारी कर रहे हैं.........और मैं.........मुझे बुखार आ रहा है। सारी दुनिया में हल्ला हो गया है कि बसंत आ रहा है पर मेरे पास आया है बुखार। अपने काँचनार को देखता हूँ और सोचता हूँ मेरी वजह से तो कहीं नही रुका है।" (अशोक का फूल)।

अपनेही ढङ्ग से समस्याओं का मनोरंजक निष्कर्ष निकालने की

प्रवृत्ति के कारण ऐसे लेखकों को अक्सर छोटी कथाओं तथा मुहावरों का प्रयोग करना पड़ता है। द्विवेदी की रचनाओं में ऐसे स्थान भरे पड़े हैं और उनमें रमे गम्भीर हास्य को देख कर हिन्दी के हास्य साहित्य पर लगाया गया लांछन झूठ ही लगता है। 'कवि रोनी सूरत क्यों बनाये रहते हैं' इसका जो गणित के अनुसार उन्होंने कारण बताया है, (आपने मेरी रचना पढ़ी है) शिरीष की गर्मी में फूलने वाली काया को लेकर जो एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं (शिरीष के फूल) वह इसका स्पष्ट उदाहरण है। अजायबघर में बैठे एप और गधे की उदासी की जो तात्विक तथा दार्शनिक व्याख्या उन्होंने दी है वह जितनी ही गम्भीर भाव से कही गयी है उतनी ही हँसाती है :—

'अन्ततः बनमानुस और गधे की गम्भीरता में मौलिक भेद है। गधा उदास होता है इसलिये नकारात्मक होता है किन्तु बनमानुस कुछ सोचता हुआ सा रहता है इसलिये उसकी गम्भीरता में कुछ तत्व सा है। गधे की गम्भीरता प्रोलेटेरियत की उदासी है, बनमानुष की वर्गवादी मनीषी की।'

द्विवेदी के जीवन का यह गंगा-जमुनी रंग ही उनके निबंधों का विश्लेषण है। स्वयं वे अपने निबन्धों में जितने उपस्थित हैं उतना और कहीं नहीं।

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्रकुमार मुख्यतः एक कहानी लेखक हैं और गम्भीर से गम्भीर दर्शन भी वे कहानीकार की मुद्रा में ही कह डालते हैं। किन्तु दूसरी ओर जो वे आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति रखते हैं वह उन्हें बराबर पाठक के

पास बनाये रखती है। सबसे बड़ी परेशानी उन्हें अपनी विद्वत्ता से से ही होती है और वे इसे किसी भी प्रकार अपनी बात-चीत की शैली से सँभाल नहीं पाते। इसी से एक वस्तु उनमें घर गई है—'कारण लिखना मेरे लिये कभी सहज नहीं था, न अब सहज है......निबन्ध लिखने के नाम मेरा दण्ड टूटता है। हाथ में कलम लेता, भाषा दिमाग से उड़ जाती।"

ठीक यही बात कहानी लिखते समय भी वे कहते है -"पर क्या लिखूँ कैसे लिखूँ?......जब कहानी लिखने को तत्पर होकर बैठ गया हूँ तो जान पड़ता है कि मेरी बुद्धि मेरे चारों ओर चक्कर लगाती घूम रही है।"

किन्तु उनका यह आत्मस्वीकरण उनका स्थान घटाता नहीं ऊँचा करता है। वे इसलिए नहीं लिख पाते कि उन्हें लिखने नहीं आता या वे लेखक ही नहीं हैं बल्कि इसलिए नहीं लिख पाते कि अक्सर जिन बातों पर तहलका मच जाया करता है उनपर इनके मन की कली खुलती ही नहीं। और यह खुलना विद्वत्ता के हाथ में तो है ही नहीं।

"आप देख सकते हैं कि जिन्दगी ऐसे तो कोई जगायी नहीं जाती। दिमाग पर कौन रह सकता है। रहना धरती पर होता है और सिर को धरती पर लाया नहीं जा सकता। प्रार्थना में ही वह झुकता है, नहीं तो स्वभाव से आसमान की तरफ अम्बर में ही तनना चाहता है। जीने के लिए कुछ ठोस जीता-जागता चाहिए जिससे लेन-देन और रगड़-झगड़ हो सके।"

यह जैनेन्द्र जी का उत्तर है और यही उनका जीवन-दर्शन भी है। जिस संक्रांति युग के वे कलाकार हैं उसमें व्यक्ति के भीतर और बाहर में भयंकर अन्तर पड़ गया है। जैनेन्द्र जी अपने अन्दर की यह परेशानी

भी कहने में तनिक नहीं हिचकते। यद्यपि वह मानते हैं कि अपने अनुभव में आने वाले सुख-दुख के मार्ग से चलकर हममें जो नहीं स्पष्ट होता वह प्रेत की तरह भ्रमता रहता है। यों आत्मा का साथ पाकर वह सत्व या सत्य बन पाता है किन्तु उनकी लाचारी उनसे वह करवाती है जो वे नहीं चाहते :—

"अन्दर की अपेक्षा में ही बाहर को मानने की लाचारी जैसे रोग की तरह शुरू से ही मुझमें बसी हुई है। जानता हूँ इसमें कारण मेरी शारीरिक या मानसिक कमजोरी है। मानसिक कमजोरी को क्या स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए ?"

यह परेशानी और हर जगह न खुलने वाला मन लेकर वे स्वतंत्र भारत में भी आ खड़े हुए हैं किन्तु चाहकर भी वे इस महान अवसर के लिए कुछ भी नहीं लिख पाते। चेस्टरटन की भाँति वे इस बड़े सूर्योदय की जगह आदमी के मन में होते छोटे सूर्योदय से अधिक प्रभावित होते हैं :—

"इस दृष्टि से वह देहाती जो सवेरे तीन बजे बगल में बे लोटा बाँध कर बाल-बच्चों के संग कोसों चलकर दिल्ली इसलिए आया है कि आठ बजे लाल किले पर अपने तिरंगे को फहराता हुआ और वहीं जवाहर को देखेगा, उसके लिए मुझ लेखक की निगाह जा सकती है लेकिन जो झंडे के बेहद समीप होकर भी इस सोच में है कि वह प्रधान मन्त्री से पाँचवें नम्बर पर क्यों और चौथे पर क्यों नहीं है उतना यथार्थ उस निगाह के लिए नहीं रहना।"

एक व्यक्तित्व प्रधान निबन्धकार का यही वास्तविक स्पष्टीकरण है, और जैनेन्द्र जी चाहें न चाहें, लिखें न लिखें किन्तु उनके भीतर का लेखक जहाँ खुलता है वह हमारे विषय की सीमा ही है।

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

इनके अधिकतर निबंध संस्मरणों की कोटि में आते हैं और स्वयं पुस्तक का नाम "जो न भूल सका" ही इसका साक्षी है, किन्तु इनके लिखे कुछ निबन्ध, जिनमें प्रवृत्ति प्रधान हो गयी है, इस कोटि में आते हैं। इस परिच्छेद की भूमिका में श्री सियाराम शरण जी के साथ इनके जिस भिक्षु रूप की बात कही गयी है वह इनके निबन्धों के कलेवर को एक विशेष प्रकाश से आलोकित कर देती है।

श्री भदन्त जी की शैली पर सन्तनिहाल सिंह का भी प्रभाव माना जा सकता है। बहुत दिनों का उनका परिचय था और उस समय की सरस्वती में निहाल सिंह के निबन्धों के अनुवाद भी खूब छपा करते थे। किन्तु निहालसिंह को केवल एक शैलीकार मानने की बात मैं यहाँ नहीं कर सकता। वे एक अमेरिकन ढंग के पत्रकार थे और उनकी आलोचना उसी स्थिति में की जा सकती है।

श्री भदन्त जी के पास अपना भी कहने को कुछ है इसलिए अच्छा हो कि वह सुना जाय। अपने प्रारम्भिक काल के दो एक व्यक्तित्व प्रधान निबन्धों : अंग्रेजी चरित्र की एक झलक, आदि के विषय में पूछने पर उन्होंने कहा था—"अब तो वह बात छप चुकी है"।

"पाठकों को जो सबसे अधिक रुचता है वह जीवन साहित्य है। यदि आप पाठक का समय लेना चाहते हैं तो पाठक भी आपसे जानना चाहता है कि आपने जीवन में क्या क्या भला-बुरा अनुभव किया। पाठक चाहता है कि वह अपने जीवन के मापदंड से आपके जीवन को भी कुछ मापे। इसी परस्पर की मापतौल में मानवजीवन का सौहार्द

छिपा है और यह सौहार्द ही है जो किसी भी चीज को रस प्रदान करता है।" 'भूमिका —जो न भूल सका'

इसी के साथ वे अपने लिखने का ढंग भी बताते हैं "किसी भी वस्तु को लेकर मैं उसपर सोचता रहता हूँ और थोड़ी देर बाद विचारों से उसे घेर लेता हूँ। स्मिथ की रेशम वाली उपमा की तरह "मेरा लोटा" की रचना इसी प्रकार हुई है और 'अखबार के विज्ञापन' पर भी इसी प्रकार लिखा गया है।"

श्री जैनेन्द्र की ही भाँति वे भी जब चाहे तब तैय्यारी का साहित्य नहीं दे पाते। जानकारी भी इसके लिए आवश्यक नहीं है। यहाँ देखने की आवश्यकता वे अनुभव करते हैं :—

"कुछ अभ्यास के पश्चात् आदमी को अपने आपको थोड़ी देर के लिए एक दूसरे लोक में ले जाने की कला सिद्ध हो जाती है। कविता की यही समाधि प्राप्ति है। वह अपनी अधखुली आँखों से दूर तक देखना सीख जाता है और हलके हाथों से कागज पर कुछ लकीरें खैंचना। उन लकीरों को यदि लोग लेख कहकर छापना प्रारम्भ करते हैं तो उसमें उस बिचारे लेखक का कुछ अपराध नहीं होता।"

किन्तु ये लकीरें बेमतलब नहीं होतीं। उन्हें लेखक के हृदय की आग की पतली लपटें मानने का अधिकार पाठक को है ही क्योंकि :—

"इन निबन्धों के पक्ष में यदि कोई बात कही जा सकती है तो वह इतनी ही कि ये सभी लेख अन्दर की आग को कागज पर रखने के अधिक से अधिक ईमानदाराना प्रयत्न हैं।"

आपके निबन्धों में भिन्न भिन्न शैलियाँ मिलती हैं पर अक्सर जीवन के उदाहरणों के माध्यम से ये प्रतिपादन करते हैं। धर्म व्यक्तिगत चीज

है का समर्थन उन्होंने एक परिवार के भिन्न भिन्न सदस्यों के उदाहरणों के बलपर किया है। इन्हें पढ़ते ही एडिसन का अन्धविश्वास:—"सुपरस्टेशन्स" निबन्ध ध्यान में आ जाता है "बेवकूफी की भी हद होती है" में अपने को ही उपस्थित किया गया है जैसे डिकेन्स के "पिकविकियन्स" बराबर एक एक प्रयोग करते जाते हैं और पाठक हँसता रहता है।

समाज में इन्होंने परस्पर विरोधी घटनाओं के संघात से ऐसा विरोध उपस्थित कया है कि बिना कहे ही बात सामने आ जाती है। अन्त में यह है पूजीवादी स्वतंत्रता......सुधार......स्वतंत्रता संग्राम कह कर इंगित करने की शैली थोड़ी उपदेशात्मक भी हो गयी है।

धर्मोपदेशकों की चर्चा वे इस प्रकार करते हैं:—'धर्मोपदेशक और घसियारों की तुलना करना कुछ जातिद्रोह समझा जायगा क्यों कि जानिब भी तो आखिर उसी थैला के चट्टे बट्टे हैं, लेकिन उनके लिए मुझे क्षमा माँगने की जरूरत नहीं है। घास खोद कर पसीने की कमायी खाने वाले का दर्जा पेशावर धर्मोपदेशक से कहीं ऊँचा है। 'वेतन किसका कितना है' इस दृष्टि से सुन्दर रचना है जिसको एक आदर्श निबंध माना जा सकता है।

लक्ष्मीकांत झा

"श्री झा जी ने अपनी पुस्तक की भूमिका में स्वीकार किया है कि इन निबन्धों के द्वारा मैंने हिन्दी में एक नयी ही शैली का प्रयोग किया है। ये निबन्ध उस शैली के हैं जिसके अंगरेजी के व्यक्तित्व प्रधान-निबन्ध हुआ करते हैं।"

यहाँ मैं यह नहीं कहूँगा कि वस्तुतः यह शैली तब तक हिन्दी के लिए

नयी रह गयी थी कि नहीं पर इतना तो कहा ही जायगा कि इस नाम से यह पहला संग्रह हिन्दी में दिखायी पड़ा। इसके पहिले काफी लिखा गया और श्री बख्शी जी आदि ने इन अंग्रेजी लेखकों का नामोल्लेख भी किया है किन्तु केवल ऐसे निबन्धों का संग्रह सम्भवतः (झूठ सच के बाद) यही है। लेखक ने अधिकतर ढाँचे ही विदेशी लोगों के नहीं लिए हैं अपितु निबन्धों का अनुवाद भी करके रख दिया है। 'खोयी चीज़ की खोज' जो संग्रह का पहला निबन्ध है वह भी छायानुवाद है। कुछ लेख इसमें मौलिक हैं और सिद्ध करते हैं कि लेखक में 'अनुभूति' की मात्रा है।

प्रभाकर माचवे

माचवे जी ने इस दिशा में इधर काफी लिखा है और वे उन दो-चार लेखकों में से हैं जिन्हें उनकी आलोचनाएँ, उपन्यास या कविताएँ प्रसिद्ध बना सकती हैं, पर वे विशद् प्रेम रखते हैं इसी शैली पर। उनका संस्कृत और अंग्रेजी का ज्ञान शैली को लाक्षणिक बना देता है अवश्य किन्तु दुरूह वे कहीं नहीं होते। इसके अतिरिक्त उनके ऐसे भी निबन्ध कम नहीं हैं जिनमें 'मध्यवर्गीय' समाज का चित्र खींचा गया है और भाषा 'अमृतलालनागर' की सी सभी स्थानिक और ध्वनिपूर्ण हो जाती है। पहली प्रकार की शैली का उनका 'गला' निबन्ध है जिसे देखकर एक बार प्रतापनारायण मिश्र की शैली की याद हो आती है। दूसरी शैली का उनका 'गाड़ी रुक गयी' निबन्ध है जिसमें एक-एक व्यक्ति का अलग-अलग स्केच भी बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। एक कम्यूनिस्ट ने इसके कारण की खोज 'डायलेक्टिक्स' के बलपर की और पण्डित जी ऐसे माला फेर रहे थे मानो "ट्रेन का रुकना ही गजेन्द्र-ग्राह संकट हो"।

भावात्मक निबन्ध-लेखकों की परम्परा

प्रारम्भ में मैंने निबन्धों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में विचार करते हुए उसको दो पक्षों में ही विभाजित किया था। अन्तः और बाह्य के प्रवृत्ति मूलक विभेदों को ही मूल में रखकर अन्य विभेद गिनाये जा सकते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। इतना मान लेने के बाद आप चार नहीं चालीस भेद कहें, किसी को आपत्ति नहीं होगी, पर यों ही बिना किसी कारण के बाह्याकारों को दृष्टि में रखते हुए भेद करने का समर्थन आज नहीं किया जा सकता।

इसी दृष्टि से सोचने पर पहले के भावात्मक निबन्ध भी काफी दूरी तक हमारी विवेचना के विषय बन जाते हैं। एक हलकी दृष्टि हम उनके भी विकास क्रम पर डाल लें तो अच्छा होगा।

यहाँ भाव-प्रधान साहित्य की उस विशिष्ट परम्परा का भी विचार आवश्यक हो जाता है, जिससे पूरा छायावाद-युग निर्मित हुआ है। कविता की तो बात ही ·हीं चलानी है, क्योंकि वह तो भावना-मूलक थी ही, गद्य में भी एक बड़ी ही मनोरम पद्धति भारतीय साहित्यों में विकसित हुई जिसने तत्व निवेदन, विवरण या सूचना-निबन्धों के शुष्क कलेवर का अपनी मुक्त भाव-चेतना के पारिजात से श्रृंगार किया। बंगला-गीतांजलि के इंगलिश अनुवादों की धूम ने पूरे भारतीय मन को प्रभावित किया, पर आलोचकों का कहा हुआ गद्यगीतों के विकास का यह कारण उतना ठीक न होता यदि पृष्ठभूमि में पहले महायुद्ध के बाद सांस्कृतिक नवोन्मेष का प्रवाह देश में न उमड़ता होता। महर्षि देवेन्द्रनाथ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द का उपनिषद्, वेदान्त को लेकर जाग्रत भाव और चिन्तन धारा का प्रवाह एक ओर था, दूसरी ओर ऐतिहासिक खुदाइयों

और खोजों ने हमारे स्वर्ण युग की स्थूल झांकी हमें देनी प्रारम्भ कर दी थी। पौराणिक हिन्दू जागरण के स्वर भी उठ रहे थे और एक ओर वेदों की नयी प्रतिष्ठा हो रही थी। पूरा देश एक सांस्कृतिक अँगड़ाई की खुमारी में आँखें खोल रहा था। ऐसी अवस्था में अपने उद्‌गारों को प्रकट करने के नये माध्यमों की खोज का नाम ही छायायुग है। इस युग ने चाहे और कुछ भी साहित्य को न दिया हो पर भाषा और भाव की अभिव्यंजना की शक्ति उसने जो बढ़ा दी उसके लिए हम उसके आभारी होंगे।

यह था भावाभिव्यंजन का एक पक्ष। हम यदि और अपनी विवेचना के साथ आगे बढ़ें तो पूरे देश में उठता हुआ एक राजनीतिक जागरण का ज्वार भी नेपथ्य में गरजता और कराहता हुआ लगता है। जहाँ गान्धी और रवीन्द्र मिले थे वही जागरण का पूरक और परिपूरक मिल-कर एक सम्पूर्ण का स्वरूप ले रहा था। पराधीनता की कसक और बलिदान का आवेग-उत्साह सांस्कृतिक भाव-चेतना से कम भावना-प्रवण रहा ऐसा नहीं कहा जा सकता। धीरे धीरे पीड़ा का विराट्-दर्शन हुआ और संघर्ष की चेतना हमें अपनी गहराइयों में उतारने लगी।

उस युग का इतिहास रहस्य-आध्यात्म और पीड़ा-बलिदान की गंगा-यमुना का अद्‌भुत श्वेत-श्याम संगम बन गया है।

गद्यगीतों की परम्परा का विकास धीरे-धीरे होने लगा। यद्यपि इसके थोड़े पहिले से बंगला के प्रभाव से भाव-प्रधान लम्बे लम्बे निबन्धों का प्रचलन हिन्दी में देखा गया और इस प्रवृत्ति का दुष्प्रभाव भी देखा गया किन्तु कुछ अच्छी रचनाएँ भी सम्मुख आयीं। सरदार पूर्णसिंह पर निर्विवाद रूप से इस शैली का प्रभाव था पर अपनी गम्भी-

रता से उन्होंने उसे प्रतिष्ठित कर दिया। बंगला के 'उद्भ्रान्त प्रेम' की स्थूल प्रेम-वियोग निवेदन की शैली भी एक युग तक हिन्दी में प्रतिष्ठित रही है, और धारा विक्षेप शैली के निबन्धों की एक परम्परा ही इनसे चल पड़ी पर आगे बढ़ने पर इसे इसी रूप में स्वीकार करना किसी को भी नहीं ठीक लगा। थोड़ा इधर उधर कर सबने ये विशेषताएँ अपने में जोड़ लीं और भाव-प्रधान तरंग या धारा शैली के निबन्धों में आज तक इसका प्रयोग हम देखते हैं।

इससे थोड़ा अलग रहस्यवादी कथनों का क्रम चला, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रवृत्ति को हिन्दी के प्रतिष्ठित लेखकों का सहारा मिला। रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि के इंगलिश के गद्य के से अनुवादों ने एक नयी दिशा खोल दी। अभिव्यंजना का नया प्रकार सम्मुख आया। कविताओं-जैसी रहस्यात्मक अनुभूति-जन्य बातें गद्य-गीतों के नाम से हिन्दी में चलीं। एक ओर छायावाद काल की कविताएँ चल रही थीं वहीं साथ ही साथ रायकृष्ण दास की आखें किसी अज्ञात प्रियतम की आशा में रास्ते पर बिछीं थीं। स्पष्ट ही यह रवीन्द्र या अन्य रहस्यात्मक भावना-प्रधान कवियों का ही विचार-क्रम था। उपनिषदों और मध्यकालीन रहस्यवादियों की उक्तियों की कथन-भंगिमा इनकी आदर्श थी और नयी तरह से किसी आनेवाले की प्रतीक्षा की जा रही थी। चतुरसेन शास्त्री ने 'अतस्तल में' थोड़ा इसे स्थूल-रूप दिया था और विषय भी उन्होंने बदले थे पर उस समय वह स्वर खोया ही रहा। भावों की एकता के साथ छायावादी अभिव्यंजना की मूल प्रवृत्ति 'अन्योक्ति-पद्धति' भी यहाँ वैसे ही विकसित हुई।

किन्तु यह सम्पूर्ण पीड़ा प्रतीक्षा और निवेदन मध्यकालीन सन्तों की तुलना में केवल इसीलिए नहीं रख दिया जायगा कि शैली मिलती

है। कुछ भी रहो पर आज का कवि कवि ही रहेगा। मध्यकालीन ईसाई, सूफी, ज्ञानाश्रयी या सगुणोपासका कवि कवि से पहले सन्त और उपासक थे। उनके अपने अपने विश्वास थे और निवेदन का अपना विशिष्ट ढंग था। उनकी सैद्धान्तिक भूमिका में उनके निवेदनों में एक विशेष सत्यानुभूति और प्रणति की चमक थी। उनकी तुलना में महादेवी को मीरा बना देना या और कवियों की तुलना कर देना बहुत ही स्थूल-बुद्धि का निर्णय होगा। उन भक्तों के कथनों में अतिशयोक्ति होते हुए भी एक अनुभूति और सत्य की लपट थी जो अभिभूत करती है, पर इन आधुनिक रहस्यवादियों का रहस्य दर्शन मात्र शैली का लाक्षणिक प्रयोग ही रह गया है, ऐसी शंका लगी ही रहती है। वातावरण और व्यक्तित्व का बल न रहने से यह परम्परा प्रभावित तो कर सकी पर इससे विश्वास उतना नहीं हुआ।

किन्तु अन्योक्ति-पद्धति और लाक्षणिकता के ये प्रयोग साहित्य के एक सर्वमान्य प्रकार तो बन ही गये। इसीलिए जब राष्ट्रीय जागरण के चरम पर हम पहुँचे तो हमारी भावुक आत्मा ने बड़े ही संतोष के साथ प्रकटीकरण के इस रूप (Form) को स्वीकार कर लिया। इस ढाँचे की सफलता की यही चरम परिणति थी।

यहाँ आकर हमारे सम्मुख एक प्रभावशाली व्यक्तित्व स्पष्ट होता है। श्री माखनलाल चतुर्वेदी

एक भारतीय आत्मा

के रूप में सम्मुख आये। उनकी राष्ट्र के आन्दोलन और उत्पीड़न की झंझा में पीपल के पत्ते की सी चंचल तड़फड़ाती आत्मा और नाश के

मनों में गूँजती झंझा का सा स्वर हिन्दी के पाठकों की स्मृति के अजायबघर की वस्तु हैं। वे कानपुर के राष्ट्रीय आन्दोलक-दल के कवि सम्प्रदाय के साथ रह कर भी उससे अलग हैं। उन्होंने गुण रूप में भावात्मक शैली की अन्योक्ति-पद्धति और लाक्षणिकता तो ली किन्तु अशरीरी भाव निवेदन का दोष उन्हें नहीं मिला, राष्ट्रीय-चेतना पीड़ा का सत्य जो उनके साथ था। यदि मध्य कालीन सन्तों को अपनी भक्ति का भरोसा था तो इस युग के जागरण संग्राम के सैनिक को अपने बलिदानों के लिए भी कम गर्व नहीं है और न तो वह शताब्दियों की अर्जित थाती के सम्मुख अपनी यह थाती लेकर जाने में लज्जा का ही अनुभव करेगा। चूँकि यह प्रत्यक्षानुभूति थी, काव्यानुभूति नहीं इसलिए इसमें सच्चे विश्वास का अद्भुत बल था। श्री माखनलाल जी अपनी इस कर्तव्य-गुरुता से अनजान भी नहीं थे। शैली की एकता जानते और मानते हुए भी वे अन्तर समझते थे :—

"यह वाणी जब बहादुरी की आवाज बनती है तब भूमण्डल के देशों के नक्शे बदल देती है, और जब एकान्त में—निकली हुई तलवार के म्यान में रखने की तरह, पुनः पुनः गुनगुना जाती है, तब पश्चाताप, प्रायश्चित और आत्म-निवेदन से भरी होती है, यह किसकी वाणी है?"

—'सन्देशवाहक'—साहित्य देवता

बाद में आप साहित्यकार का पथ भी निर्दिष्ट करते हैं :—

"तुम उसकी जबान हो जो बोल नहीं सकता, उसके हाथ हो, जो लिख नहीं सकता × × जरूरतमन्दों, दबे हुओं में तुम्हारे दर्शन

होते हैं। वहाँ तुम्हें मदद मिलने के बजाय तुम्हारी सहायता और शक्ति की परीक्षा होती है, तब भी तुम उन्हीं के साथ रहते हो।"

सन्देश वाहक—साहित्य देवता

प्रणय निवेदन के प्रकार बदल रहे हैं, इसका स्पष्ट निर्देश भी वे करते हैं:—

"प्रेम शब्द अब युग-परिवर्तन की यमुना की लहरों से भीगता जा रहा है। वह कृष्ण की सौगन्धों की कीमत पर बाँसुरी की धुनि में अब कच, कुच, कटाक्ष गाता खड़ा न रह सकेगा। वह गीत ही गावेगा, किन्तु वे (गीत) जमाने के भाग्य लिखेंगे।"

'प्रेम'—साहित्य देवता

स्पष्ट ही यह पिछले भावात्मक गद्य-गीतों या प्रबंधो में एक अध्याय जुड़ रहा था। शैली (टेकनीक) में कोई विशेष भेद न होते हुए भी बात एक दम दूसरी कही जा रही थी:—

"मानव पुनर्जन्म माने न माने किन्तु साहित्य तो पुनर्जन्मा रहा और फिर रहा। कोलम्बस की यात्रा में मौलिकता थी—अमेरिका पाने में नहीं"—वे इसी से किसी भी प्रकार के रूढ़िगत या "पालतू साहित्य" के विरुद्ध खड़े हो गये हैं। नयी भूमिकाओं के बिना यह अवसाद हटने का नहीं यह उनका विश्वास था। हम बिना पक्षपात के यहाँ कह सकते हैं कि माखनलाल जी के रूप में एक संघर्षकालीन कला जन्म ले रही थी। इसी कला का दूसरा नाम था प्रेमचन्द और बाद की आने वाली प्रगतिशील परम्परा इसी प्रवृत्ति की अगली जय-ध्वनि थी। छायावादी "तलवार के म्यान में जाने की गुनगुनाहट" को दबाकर धीर गम्भीर स्वर शंखध्वनि सा उठ रहा था:—

"···थर थराते हुए यदि कहीं दूर जंगल में आग सुलगती दीखी! वह लाल पीला प्रकाश। और बिना रास्ते की प्रतीक्षा किये वह चल पड़ा मानव···उस दूर दीखने वाली आग में···फिर उस बीहड़ मार्ग में फिर शीत की आधीरात के समय एक किरात बूढ़ा की झोपड़ी में आग में हाथ सेकने में कितनी कविता कितना काव्य! पनचक्कियों में, गैस के चूल्हों में और बिजली के बल्बों के नीचे हमारा काव्य न जाने क्या हो गया!"

यही संघर्ष-कालीन साहित्यकार की आत्मा की पहचान है। एक बार गोर्की से एक साहित्यकार ने पूछा था कि महान साहित्यकार कैसे हुआ जा सकता है? उसका उत्तर जो गोर्की ने दिया वह विचित्र था। उसने पूछा कि कभी तुम अनिश्चित यात्रा पर निकले हो जब कि रात बर्फीली हो, रास्ता भयंकर हो, तब तुम किसी दरवाजे पर जाओ और वह तुम्हें देखकर आँखें मूंद ले, तब जब कुत्तों की गन्दी खोहों में तुम घुसना चाहे हो और वे विरोध करने लगे हों। और वह रात तुम्हारी सड़क पर खड़े खड़े ही बीत जाय? क्या ऐसी रात तुमने बितायी है? उसने कहा कि ऐसा तो नहीं हुआ है। "तो तुम महान साहित्यकार नहीं बन सकते" गोर्की ने उचटे मन से उत्तर दिया। इस कथा में भी वही संघर्ष कालीन पुकार है। एवरक्राम्बी ने महाकाव्यों (Epic) तथा महाकविताओं (Great poetry) के मूल में भी इसी तत्व की आवश्यकता बतायी है। माखनलाल जी साहित्यकार के सम्मुख विकल्प नहीं छोड़ते निश्चय (Challenge) मांगते हैं।

"(जो ऐसे नहीं लिखता) उसके लिए एक ही विशेषण काफी है वह पालतू चीजें लिखता है। तब दुनियां में पर्वतों से कौन टकराये,

नदियों का प्रवाह किससे थमे, और नक्षत्रों से कौन कानाफूंसी करे ?"

पालतू साहित्य—सा० दे०

"यदि पर्वतों से टकराने से मानव घबड़ाए, नदियों का प्रवाह रोकने में लगने वाली चोटों से उसे शोक हो······तो कलम फिर किसके हाथ में दी जावे······और कलम हाथ में लिए बगैर काम भी तो चलेगा नहीं।"

- पालतू साहित्य

यही विचार हैं इनके जिन्हें वहन कहने के लिए उन्होंने एक नयी भाषा गढ़ी है। वर्षा का धूसर उद्दाम वेग सब कहीं उनकी रचनाओं में दीखता है, शान्त आचार्यों की सी मुद्रा उनकी कहीं भी नहीं रही।

अब हम आते हैं इनकी शैली पर। यद्यपि सभी बातें एक एक कर आ चुकी हैं पर इनकी शैली पर थोड़ा अलग से विचार करने से दो एक बातें और स्पष्ट होंगी। अन्योक्ति पद्धति के कवि के नाते माखनलालजी प्रमुख हैं ही। उनकी 'कोकिल बोलो तो' कविता अन्योक्ति पद्धति की अच्छी कविता है। इसके अलावा जितनी भी कविताएं हैं वे किसी न किसी रूप से इसी सीमा में आ जाती हैं। गद्य में यह विशेषता और नेखरी है। जहां तक इस पद्धति का प्रश्न है वे रामकृष्णादि से अधिक दूर नहीं हैं, इसलिए छोटे मोटे गद्यगीत जितने भी हैं वे उसी शैली के हैं। अन्तर केवल रहस्यात्मक और स्थूलभौतिक ही है। 'तुम आनेवाले हो' 'असहाय श्यामघन' 'मुरलीधर' 'गृहकलह' ऐसे छोटे गद्यगीत 'साधना' काल के रायकृष्ण दास के ऐसे ही लगते हैं। एक स्थान पर अधजल गगरी के माध्यम से वे विशेष इंगित करते हैं—

"क्या यह तुम्हारी चाह है कि वह अधजल भले ही रहे पर छलके

नहीं !··· पथिक इसे भर ले, छलकने न दे। इसकी छलक के दिवाले में पीढ़ियाँ बरबाद होती आयी हैं।

'छलकन गगरी'—सा० दे०

साहित्य देवता को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा:—

"आँखों की पुतलियों में यदि तुम कोई तसवीर खींच देते तो वे बिना दातों के ही चीथ डालतीं, बिना जीभ के ही रक्त चूसती" जनता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं:—

"देवि यह तो जलबिन्दुओं के ज्वार बनने का समय है, लहरों के टूटकर जलबिन्दु बन जाने का नहीं।"

—जनता (सा० दे०)

इसी झटके में इसी कसौटी पर वे स्वयं अपना व्यक्तित्व भी आंक लेते हैं:—

"हमारा कोई गीत भी तो हो ! कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ।"

"इसीलिए मैंने शास्त्र को घिसे हुए पैसे की तरह रद्द कर कर पीछे छोड़ दिया। अब मेरे शब्दों में कला, प्रलय के खिलवाड़ को कहते हैं, विद्रोह को कहते है।"

कवि होने के नाते और भाषा से लाक्षणिक झनकार निकालने की प्रतिभा में निष्णात होने के नाते माखनलाल जी चित्र बहुत ही सुन्दर देते हैं। सूत्रों की तरह अर्थ गर्भ वाक्यों से उनका साहित्य भरा पड़ा है:—

"उन्मेष बनकर आओ, इतिहास बनकर लौट जाओ।"

"तरुणाई और कविता ये दो वस्तुएँ नहीं, एक ही के दो नाम हैं"

"कलम छुओ उस दिन जिस दिन उन्मेष से या वेदना से तुम्हारा रक्त आँसू बनकर और तुम्हारे आँसू रक्त बनकर उतर रहे हों।"

"यदि इरादों पर पहुँचने में रेल के टिकट काम आ जाया करते तो कला के स्वर्ग को हम पत्थरों और कागजों से छू सकते"।

उनकी तन्मयता और भावुकता उन्हें कहां ले जाती है:—

"करंज के झाड़ पर मैंने दोनों हाथ उस वर्षा में लटका दिये थे। किन्तु उस झाड़ की जड़ों से डालियों में चढ़ता हुआ रस डालियाँ समझ कर मानो मेरी ही भुजाओं में चढ़ता जा रहा था। पैरों के नीचे जमीन थी सिरपर आसमान की बूंदाबादी थी, कांधे के पास पक्षी दुबक-कर बैठे थे...मैं नदी तट पर निस्तब्ध खड़ा था।"

व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध और अन्य प्रयोग।

हिन्दी के साहित्यकारों में इस वस्तु का अभी कोई व्यवस्थित निर्णय नहीं हो पाया है कि निबन्धों के अन्य प्रकारों का विभेद कैसे किया जाय। ज्यों ज्यों साहित्य आगे बढ़ता जा रहा है, अभिव्यंजना की नयी नयी शैलियां सामने आ रही हैं इसलिए एकाएक एक झटके में निर्णय दे देना साधारण कार्य नहीं है। अंग्रेजी में संस्मरण, रेखाचित्र (स्केच), और आत्मकथाओं का विशेष प्रचलन है। इनके अतिरिक्त आत्मकथन (मोनोलाग्स) और रेडियो निबन्धों का विकास हो गया है। अमेरिका में रेडियो की इस शैली ने अभूतपूर्व उन्नति करली है।

इतनी भिन्न भिन्न शैलियों के एक ओर होते हुए और स्वयं व्यक्तित्व प्रधान निबन्धों की निश्चित सीमा रेखाएँ न बन जाने से काफी अस्तव्यस्तता आ गयी है। जहां तक इंगलिश का प्रश्न है वहां कोई सन्देह नहीं है लेकिन हिन्दी में रचनात्मक साहित्य इतना परिमित है कि विभाजन का

प्रश्न उठने पर निर्णय करना असम्भव हो जाता है। किसी विषय के तो लेखक ही नहीं मिलते और ऐसा भी होता है कि एक ही लेखक का विभाजन करने की स्थिति उपस्थित हो जाती है।

संस्मरण

जहां तक संस्मरणों का प्रश्न है, उसमें व्यक्ति का अपना दृष्टिकोण तो होता ही है, साथ ही वह स्वयं को भी आलंबन के पास ही रखता है। इस प्रकार व्यक्तिगत अनुभूतियों और प्रतिक्रियाओं के लिए पूरा स्थान ऐसे निबन्धों में रहता है। श्रीमती महादेवी वर्मा के अतीत के चल-चित्र और स्मृति की रेखाएँ के पात्र महत्वहीन व्यक्ति हैं किन्तु उनमें किसी न किसी महत्व की खोज, किसी लाचारी की खोज, किसी दर्द की खोज स्वयं महादेवी जी करती हैं। इस खोज करने की स्थिति में उनका अपनापन भी छिपा नहीं रह पाता और कभी कभी तो आलंबन दब जाते है और महादेवी जी ही सामने आ जाती हैं। किन्तु दूसरी ओर ऐसे निबन्धों में विषय का प्राधान्य तो बना ही रहता है। पाठक की दृष्टि पहले विषय पर ही पड़ती है और लेखक का इस दिशा में वह आभारी मात्र होता है कि उसने पात्र के इस अंश विशेष से उसका परिचय कराया। कहीं आलंभन कोई महत्वपूर्ण हुआ तो यह वस्तु और प्रधान रूप से सामने आती है। ऐसी दशा में 'व्यक्तित्व प्रधान" ऐसी कोई वस्तु सामने कहां आई? किन्तु इस सम्बन्ध में श्री गुलाब राय जी लिखते है कि अतीत के चलचित्र और 'स्मृ'त की रेखायें' मेरी समझ में वैयक्तिक निबन्धों के अच्छे उदाहरण है। उनकी स्थापना के मूल में वही पहले वाली वस्तु कार्य कर रही है और चूँकि महादेवी के आलम्बन काफी छोटे और उनके भीतर पहचाने जानेके नाम पर केवल उनका दर्द, उनकी ईमान दारी और उनकी लाचारी

है इसलिए वे व्यक्ति न रहकर एक प्रवृति के प्रतीक हो गये है और लेखिका महादेवी का स्वरूप काफी स्पष्ट होकर उभर आता है किन्तु ठीक यही बात, श्री मोहनलाल महतो वियोगी के "सप्तसुमन" के संस्मरणों के सम्बन्ध में नहीं कही जासकती। वहां उनके आलम्बन बड़े व्यक्ति हैं और लेखक सिवा जिज्ञासु और भावुक दर्शक के और कुछ नहीं रह जाता। श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन के "जो मैं न भूल सका" के संस्मरणों में जहां व्यक्ति प्रमुख पड़ गये हैं वहां तो संस्मरण है किन्तु जहां प्रवृत्तियाँ प्रधान हो गयी हैं वे एक व्यक्तित्व प्रधान निबन्ध हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि संस्मरण और व्यक्तित्व प्रधान निबन्धों के बीच की विभाजक रेखा पूरी दूरी तक बनी नहीं रहती। लेखक इस दिशा में पूरा स्वाधीन है कि वह केवल अपनी बात कहे। साथ ही उससे यह आशा भी बराबर की जाती है कि वह आलंबन की इतनी उपेक्षा न करे कि उसका अपमान हो जाय। यह एक असंतुलित कला का उदाहरण होगा और किसी भी असंतुलित कला को दोष के अन्तर्गत न रखकर एक नये वर्ग का प्रतिनिधि बना देना उस नये विषय की गुरुता की उपेक्षा करना होगा। किन्तु मैं कह चुका हूँ कि हिन्दी में अभी किसीभी स्वरूप का पूर्ण विकास नहीं हो सका है इसलिए पूरे पूरे लक्षण तो हम कहीं भी नहीं लगा पा रहे हैं इस दृष्टि से संस्मरण ऐसे निबन्धों के काफी नजदीक हैं।

स्केच

दूसरी समस्या है "स्केच" की। यह शैली प्रगतिशील युग में काफी प्रयुक्त हो रही है क्योंकि इसमें लेखक का एक आलोचक तथा व्याख्याता का स्वरूप बना रहता है। डी क्वेंस्नी ने एक स्थल पर लिखा है कि फोटोग्राफी के कैमरे का काम फोटो लेना होता है और स्वयं कृति की सीमा से

थोड़ी दूरी पर वह ' कोण" बना कर उसे देखता रहता है। एक स्केच लिखने वाले की स्थिति ऐसी है कि वह आलम्बन का ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है जिसकी एक एक रेखा में उसकी अपनी पसन्द भी होती है। यह स्केच व्यक्ति का भी हो सकता है, समाज का भी, प्रवृत्ति का भी, किन्तु यही जब अपना हो जायगा और केमरा स्वयं अपने को ही कोण (एंगिल में भर लेगा तब हम अपनी वांछित भूमि में पहुँचेंगे। श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने ' विशाल-भारत" के माध्यम से इस दिशा में उल्लेखनीय काय किया है और स्वयं कई ऐसे लेखक पैदा भी किये हैं। मधुकर का "रेखा चित्रांक" इस दिशा में एक निश्चयात्मक कदम था। उन्होंने श्री रामवृक्ष बेनीपुरी के रेखा चित्रों 'माटो की मूरतें' आदि की काफी प्रशंसा की है। श्री राम शर्मा, श्री प्रेम नारायण टन्डन के संस्मरणो और रेखाचित्रो आदि की ओर आज लोगो का ध्यान जा रहा है। इस दिशा में श्री वृजमोहन वर्मा का नाम देते समय श्री गुलेरी तथा पूर्णसिंह वाली स्थिति ठीक सामने आ जाती है। श्री वर्मा जी का उल्लेख सबने किया है किन्तु उनकी विकसित होती हुई शैली को मृत्यु के हाथों ने मिटा डाला।

आज की नयी पीढ़ी का कहानी लेखक जो दिन पर दिन 'रेखा-चित्रों' की सी चीजें लिखता जा रहा है वह स्पष्ट सिद्ध करता है कि राजनीतिक युग के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण की उत्कट इच्छा को "स्केच" की शैली संभाल लेती है। बिना किसी कथा के, अनुभूति तथा सिद्धान्तों के बल पर लेखक एक व्यक्ति या परिस्थिति पर आरोपित करता चला जाता है और एकाएक एक जगह सब रुक जाता है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की अधिकतर रचनाएं ऐसे ही सिद्धान्तों के खाके में से निकले व्यक्तियो की गाथाएं हैं। श्री रांगेय राघव ने इस दिशा में कुछ अच्छे रेखा-चित्र बंगाल के अकाल तथा इन्दौर ग्वालियर की घटनाओं पर दिये हैं।

किन्तु यही रेखा चित्रों की "सिद्धान्त के उदाहरण" प्रस्तुत करने वाली शैली ही उसे व्यक्तित्व प्रधान निबन्धों से थोड़ा दूर कर देती है। लेखक के सामने जो व्यक्ति या वस्तु उपस्थित है उसका स्वरूप चित्रण ही ऐसी रचनाओं का प्राण होता है। ये रेखाएँ ही बताती हैं कि लेखक ने कितनी गहराई से एक एक सिकुड़ने देखी है और उन्हें उपस्थित किया है।

और जब श्री बनारसी दास जी कहते हैं कि 'पर्सनल एसे' से आप का अभिप्राय "स्केच" या रेखाचित्र से है, तब मैं सोचने लगता हूँ कि यहाँ भी तो वही संस्मरणों को दूरी काम कर रही है। संस्मरण में तो रचनाकार उस चित्र में आने का अधिकार रखता है किन्तु रेखा चित्र में तो वह राय अधिक देता है और दूर हो रहकर कैमरे की सी हालत में अपना काम करता है। कैमरे की सबसे बड़ी लाचारी यही होती है कि वह जिस चित्र को अपने कोण में भरता है उसी में स्वयं नहीं आ सकता।

इसी के साथ श्री निराला जी के "बिल्लेसुर बकरिहा" और "कुल्लीभाट" भी "स्केच" के ही अन्तर्गत रखे गये हैं। बकरिहा के साथ तो यह बात सच है किन्तु कुल्ली भाट में स्वयं लेखक उतर कर आ गया है। यदि स्केच हैं तो तटस्थता भंग हो गयी। संस्मरण आत्मकथा है तो बात कुछ दूर तक चल सकती है।

आत्म-कथा

एक निबन्ध लेखक के पास आत्मकथा के तत्व तो वर्तमान रहते हैं। किन्तु असल भेद है उनके उपस्थित करने के प्रकार में। आत्मकथा में जिस व्यवस्था की अपेक्षा रहती है उसकी कोई भी आवश्यकता इस प्रकार

के निबंधों में नहीं उठती। बेकन के "बिखरे विचार" की सो स्थिति एक निबंधकार की होती है और आत्मकथा कहते हुए भी प्रधान रूप से वह नहीं कहता। यहाँ प्रश्न प्रवृति 'मूड' का रहता है और विचार उसको केन्द्र बनाकर रेशम के कीड़े के चारों ओर लिपटते रेशम से घिर जाते हैं, अक्सर यहाँ गन्तव्य का प्रश्न उतना बड़ा नहीं होता जितना प्याज के छिलकों का सा तह पर तह खोलना महत्व रखता है। आत्मकथा का विवाद हिन्दी वाले भूले न होंगे। वहाँ प्रश्न ही यही था कि क्या लेखक के जीवन में ऐसा कुछ है कि वह उसे उपस्थित करे। फिर क्या पाठक के लिए यह आवश्यक है कि वह उसे पढ़े ही। यह प्रवृत्ति किस कार्य की है उस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है और इसीलिए एक स्थल पर मैंने कहा है कि यूरोप के रोमान्टिक आन्दोलन के साथ विकसित होती हुई व्यक्तित्व को सामने रखने की प्रवृत्ति का विकास हिन्दी के छायावादी आन्दोलन के साथ नहीं हुआ। उनके बीच जो साहस का अभाव था और जनता से न सुने जाने का डर था उसने ही तो उनके ऊपर पलायनवादी होनेका अभियोग लगाया। चाहे यह अभियोग आज ठीक न माना जाय किन्तु रोमान्टिक युग का सा विश्वास वे सचमुच दिखा न सके। तभी तो उनके प्रधान आलोचक प्रेमचन्द्र के खिलाफ अन्त तक लड़ते रहे और प्रसाद जी ने आत्मकथा लिखने के नाम पर लिखा—

'क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मौन रहूँ?'
—लहर

किन्तु प्रेमचन्द्र जी को पूरा विश्वास था। यह सम्भवतः पत्र के सम्पादक का साहस था जो इंगलैण्ड के पत्रकारों में प्रखर रूप से चमक रहा था।

किन्तु आत्मकथा फिर भी साहित्य की सीमा रेखा में एकदम नहीं

रखी जाती। वह आज तक जानकारी की एक वस्तु रही है, साहित्य के अध्ययन की नहीं। उसे कलाकार को समझने के लिए भले ही पढ़ा जाय पर कला के लिए अभी नहीं पढ़ा जाता रहा है। दृष्टिकोण में धीरे धीरे परिवर्तन हो रहा है और भविष्य ही बतलावेगा कि आत्मकथा का कारण पत्र आगे साहित्य माना जाता है या नहीं। श्री गुलाबराय ने 'मेरी असफलताएँ' को आत्मकथात्मक कहा है किन्तु पूरी पुस्तक इस मुद्रा में नहीं लिखी गयी है। वे स्वयं कहते है कि उसमें अपने ही को विषय बनाया है। अपने ही को विषय बनाना और आत्मकथा लिखने का अर्थ इतना साफ है कि व्याख्या की आवश्यकता नहीं। यही अन्तर इन दोनों शैलियों में भी है।

स्वगत कथन "मोनोलाग्स" और रेडियो बातचीत

नाटकों के स्वगत कथन का उद्देश्य ही यही होता है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट करने का अवसर पा जाय। ऐसे अवसर पर जनान्तिक अपवारित आदि भेद ही उसके किये गये हैं और यह आशा की जाती है कि जिन्हें न सुनना हो वे न सुनेंगे। किन्तु "आकाशभाषित" में पात्र एकदम आकाश की ओर देखता हुआ तर्क वितर्क करता है और एक प्रकार से विषय की ओर अपनी पूरी आलोचना हो जाती है किन्तु इसका सम्बन्ध पात्र से होता है, लेखक तो वहाँ उपस्थित रहता ही नहीं।

किन्तु इस प्रकार के स्वगत कथन का प्रयोग यूरोप में स्वयं लेखक के आत्म प्रकटीकरण से भी सम्बन्धित है। इसी अपनी सीधी अभिव्यंजना के कारण वह "व्यक्तित्व प्रधान" निबंधों की ही जाति का सवाल है। किन्तु जहां तक इसकी शैली और आलोचना पद्धति देखने में आती है यह वस्तु और ऊपर की आकाशभाषित आदि, प्रलाप की सीमा में बहुधा चली

जाती है यदि "उद्‌भ्रान्त प्रेम" को व्यक्तित्व प्रधान माना जाय तो इस पक्ष पर विचार किया जायकि निबन्ध की प्रलापशैली कुछ अधिक चली नहीं और ऐसा लगता है कि रोमान्टिक युग में एक काल तक उसका प्रचलन रहा। फिर गद्यगीत भी कुछ दिन तक चले किन्तु आज तो ये सब समय से दूर हो गये हैं। जब थे तब भी कभी इन्हें 'एसे' निबंध कहते सुना नहीं गया। रेडियो के आविष्कार से लेखक और पाठक का वह पुराना बात-चीत करने वाला स्वप्न पूरा हो गया। और लेखक को चिन्ता रहती है कि श्रोता कहीं मेरी बात सुनते सुनते ऊब कर कहीं सूई हटा कर संगीत की खोज न करने लगे। श्री अज्ञेय जी ने कहा था कि 'श्रोता का कान पकड़ने की कोशिश कीजिये नहीं वह भाग निकलेगा।" वस्तुतः यह शैली विश्वास तो दिला.ी है और अपने व्यक्तिगत अनुभव से मुझे लगा कि गंभीर आलोचना की जगह लोगों ने मेरे व्यक्तित्व प्रधान निबंधों के ढंग पर लिखी गयी बातचीत विशेष ध्‌ान से सुनी। इस दिशा में अभी प्रयोग के लिए पूरा क्षेत्र खाली है और कम से कम हिन्दी का क्षेत्र तो अभी रेडियो से बहुत ही कम परिचित हो सका है।

रेडियो से हिन्दी वालों की पुरानी झिझक भी छूट सकती है और साथ ही वे अपने को इतना संतुलित रख सकेंगे कि कहीं श्रोता आगे बढ़ जाय। इससे लेखक की पाठक या श्रोता की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति कम होगी। किन्तु सभी रेडियो बातचीत तो अपने से सम्बन्धित नहीं होती। अक्सर वे साधारण विषयों को लेकर उपस्थित की जाती है और वहाँ ऐसा कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

आल इण्डिया रेडियो दिल्ली से प्रायः दो लेखक आपस में बातचीत करते हैं और या तो कोई विषय होता है या स्वयं अपने पर ही वे परस्पर बोलते है। अभी हाल ही में श्री जैनेन्द्र कुमार और श्री सियारामशरण गुप्त

की एक बातचीत प्रस्तुत की गयी थी। श्री जैनेन्द्र जी ने श्री सियाराम शरण जी से आँसू की बात चलायी उन्होंने कहा उसके बाहर गिरने से कुछ नहीं होगा, किन्तु भीतर गिरने से उसकी शक्ति अथाह हो जाती है। मैं समझता हूँ कि इससे स्पष्ट अपने बारे में कहा जा सकता है स्वयं "टाक" शब्द ही कितना व्यंजक है।

इस प्रकार हमने देखा कि आधुनिक प्रवृत्तियों के साथ मेल खाती हुई नयी नयी शैलियां नित्य विकसित हो रही हैं। टेलीफोन पर बैठे एक व्यक्ति का बातचीत भी इस दशा में एक मनोरंजक उदाहरण हो सकती है जहाँ दूसरा पक्ष एक दम लुप्त रहता है और केवल इधर से पिछले उत्तरों से ही उसकी प्रवृत्ति का अन्दाजा लगाना होता है। साहित्यकारों की चिट्ठियों का संग्रह भी विशेष लाभदायक हो सकता है। काम बहुत है किन्तु सबका विभाजन कर के उस पर अलग अलग विचार करना अगली पीढ़ी के लिये लाभदायक हो सकता है। इंगलिश साहित्य में यह शैली इतनी विकसित और मान्य हो गयी है कि व्यक्तित्व प्रधान निबंध ही साधारण निबंध (Essay proper) का प्रतिनिधित्व करने लगे और इसके अतिरिक्त जो कुछ है उसको तो प्रीस्टले निबंध ही नहीं मानने को प्रस्तुत हैं।

परिशिष्ट (अ)

तीन पत्र

हिन्दी के वर्तमान निबन्धकारों की दृष्टि में व्यक्तित्वप्रधान निबन्ध क्या है, तीन पत्रों से थोड़ा स्पष्ट हो जायगा:...

श्री गुलाबराय जी

वैयक्तिक निबन्धों के सम्बन्ध में लिख रहे हैं। जानकर प्रसन्नता हुई। सुश्री महादेवी वर्मा के अतीत के चलचित्र और "स्मृति की रेखायें" मेरी समझमें वैयक्तिक निबन्धों के अच्छे उदाहरण हैं। और भी कुछ निबंध जैसे सियाराम शरण जी के "झूठ सच" में हैं इस कोटि में आयेंगे। मेरे निबन्ध 'मेरी असफलतायें' नाम के ग्रंथ में प्रकाशित हुए हैं। उनमें मैंने अपने ही को हास्य का विषय बनाया है......ठलुआ क्लब में एक मधुपेयी लेखक की आत्मकथा......है।

श्री बनारसी दास चतुर्वेदी

पर्सनल एसे से आपका मतलब स्केचेज़ या रेखाचित्रों से है।... मधुकर के रेखाचित्राङ्क...में बहुत मसाला है। ए० जी० गार्डिनर और फ्रैंक हैरिस के ग्रन्थ पढ़े हैं। (इसके पश्चात् स्केचेज़ का ही परिचय है)।

श्री अशोक जी

विषय अच्छा किन्तु उपेक्षित है। शुरु हिन्दी में भारतेन्दु ने (मूसा पैगंबर) बालमुकुन्द गुप्त, बालकृष्ण भट्ट आदि ने इस ढंग पर अच्छा लिखा है। इधर कुछ दिन पूर्व लक्ष्मीकांत झा ने लिखा है। वर्धा के रामेश्वर दयाल दूबे, बनारसी दास चतुर्वेदी, बृजमोहन वर्मा आदिने लिखे पर यह धारा अब सूख सी रही है...पर्सनल एसे एक तरह का इंगलिश का एसे प्रापर ही है।

परिशिष्ट (ब)

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी

	भारतेन्दु-युगीन पत्रों की फाइलें ।।
	हरिचन्द्र चन्द्रिका
	ब्राह्मण
	हिन्दी प्रदीप
प्रतापनारायण मिश्र...	ब्राह्मण की फाइल
	निबंध नवनीत
बालकृष्ण भट्ट...	'हिन्दी प्रदीप फाइल'
	भट्ट निबन्धावली (तीन भाग)
राधाचरण गोस्वामी	तत्कालीन फाइलें
बालमुकुन्द गुप्त...	भारत मित्र
	गुप्त निबन्धावली
	शिवशंभु का चिट्ठा
	बालमुकुन्द-अभिनन्दन ग्रन्थ दो भाग

माधवप्रसाद मिश्र...	माधव मिश्र निबंध माला।
पद्मसिंह शर्मा ...	प्रबन्ध पद्म
गुलाब राय ...	मेरी असफलताएँ।
	ठलुआ क्लब
बख्शी, पदुमलाल पुन्नालाल...	प्रबंध पारिजात
	कुछ
सियारामशरण गुप्त...	झूठ-सच
हजारीप्रसाद द्विवेदी...	विचार और वितर्क
	अशोक के फूल
जैनेन्द्र कुमार···	जैनेन्द्र के विचार
	नीलम देश की राज्य-कन्या
भदन्त आनन्द कौशल्यायन···	जो न भूल सका
लक्ष्मी कान्त झा···	मैंने कहा
माखनलाल चतुर्वेदी	साहित्य देवता

रेखाचित्रों के लिए

रामवृक्ष बेनीपुरी	माटी की मूरतें, गेहूँ और गुलाब तथा छिट फुट निबन्ध
बनारसीदास चतुर्वेदी	मधुकर का रेखाचित्रांक तथा मधुकर-विशाल भारत की फाइलें

संस्मरणों के लिए

महादेवी वर्मा	अतीत के चल-चित्र, स्मृति की रेखाएँ

सहायक ग्रन्थ

प्रेमचन्द	हंस का आत्म-कथाङ्क
	कफन तथा अन्य कहानियां

अंग्रेजी

ह्यूवाकर	इंगलिश एसे एन्ड एसेइस्ट
प्रीस्टले, जे० बी०	एसेइस्ट पास्ट एन्ड प्रेजेण्ट
वूल्फ, विरजीनिया।	दी काम लीडर,
रीड, हरवर्ड	इंगलिश प्रोज स्टाइल
	कलेक्टेड एसेज़
......	ए हिस्ट्री आव दी इन्टेलेक्चुअल सिरीज़ (भूमिका भाग)
काउच, सर आर्थर क्विलर	आन आर्ट आव राइटिंग
मैरोट, जे० डब्ल्यू	माडर्न एसे एन्ड स्केचेज़
वाल्टर रेले	स्टाइल
चेस्टरटन जी० के०	आटोबाईग्राफी
लूकस, इ० वी०	गिविंग एंड रिसीविंग
	दी इवोल्यूशन आव झीम्जिकेलिटी
को एशलर	दी चैलेञ्ज आव आवर टाइम

इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध निबन्धकारों का मुख्य-मुख्य सभी साहित्य

मराठी

प्रो० ना० सी० फड़के	नवे लेणे

बंगला

रवीन्द्रनाथ	रवीन्द्र सिरीज़ के भावात्मक निबन्ध

गुजराती

काका कालेलकर	कला अने जीवन
	प्रमुख पत्रों के अंक